

नाहि तो जन्म नसाई

पिछले अंक में हमने मशहूर फिलिस्तीनी कवि महमूद दरवेश की कुछ कविताएं आप तक पहुंचायी थी। फिलिस्तीनी संघर्ष आज एक नया मोड़ ले चुका है। मिस्र द्वारा इस्रायल और फिलिस्तीनी संगठन हमास के बीच युद्धविराम के लिए जो 18 जून को समझौता हुआ उसकी हकीकत अगले ही दिन खुल गई। इस्रायली फौजों ने गाज़ा पर हवाई हमले किए जिनमें कई लोगों की मौतें हुईं। मकसद साफ है। हमास के साथ युद्धविराम समझौता करके इस्रायल हमास और अल-फतह के बीच की दरार और गहरी करना चाहता है साथ ही अन्य छोटे समूहों को ये संदेश देना चाहता है कि उनकी आवाज़ें मायने नहीं रखतीं। मतलब ये की फिलिस्तीन के अंदर के द्वन्द्व का इस्तेमाल करके अपने वर्चस्व को मजबूती देना। लेकिन फिलिस्तीनी संघर्ष जारी रहेगा। इस अंक में हम फिलिस्तीनी कवि अल-करमी की एक कविता प्रस्तुत कर रहे हैं।

हम वापस आएंगे

■ अब्दुल करीम अल-करमी

मेरे फिलिस्तीं, ऐ वतन
ख्वाबों में खोऊं किस तरह
ज़ख्मों की गहराई लिये
आंखें करें सौ-सौ गिला
मैं सारे आलम को करूं
पाकीज़ा तेरे नाम से

प्यारे वतन ये मेरे ग़म
मैं राज़ ही रखता मगर
आशिक हूं पर, मजबूर हूं

ये रोज़-ओ-शब के कारवां
अफसाने जिनमें हैं निहां
साज़िश के तूफ़ां हैं रवां
है एक तरफ दुश्मन जहां
कुछ यार भी हैं दरमियां
तू ही बता प्यारे वतन
तेरे बिना क्योंकर जिऊं

पर्वत तेरे, तेरी ज़मीं
और खूं में लथपथ वादियां
आवाज़ देती हैं मुझे
वो देख उफ़क़ की लालिमा
दरिया के रोने की सदा
धारों में डूबी सिसकियां
कब से पुकारें हैं मुझे

कूचे तेरे, तेरे शहर
अब हैं यतीमों के नगर
हैं चीखते शामो-सहर
—

यारों को लेकिन है यकीं
होगी हमारी फिर ज़मीं
हम लौट कर फिर आएंगे
खाके वतन के हुस्न को
बोसों से हम चमकाएंगे
एक रोज़ ऐसा आएगा
यूं वक्त पलटा खाएगा
उठेगी बन आंधी हवा
गूजेगी तूफ़ां की सदा
हम साथ लेकर आएंगे
उम्मीद, नगमें, कहकशां
चिंगारियां और बिजलियां
सर, बाज़ू, चेहरे, त्यौरियां
तलवार, खंजर दिल और जां

फिर सुबह ऐसी आएगी
फिर सुबह ऐसी आएगी
सहरा पे जो मुस्काएगी
लहरों पे नगमें गाएगी

अनुवाद : खुशीद अनवर

हिंदुत्व के अहमक

■ सुभाष गाताड़े

‘आतंकवादी संगठन मुल्क में तनाव पैदा करते हैं। भाजपा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, बजरंग दल, हरियत कॉन्फ्रेंस और लश्कर ए तोइबा जैसी साम्प्रदायिक पार्टियां हिंसा को बढ़ावा देने के लिए जिम्मेदार हैंजिसकी वजह से मुल्क के विशेषकर कश्मीर के - सैकड़ों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है।

‘आतंकवादी संगठनों का अस्तित्व’, उड़ीसा के द्वितीय वर्ष के छात्रों के लिए ‘भारतीय राजनीति’ पर प्रस्तावित पाठ्यपुस्तक से (इण्डियन एक्सप्रेस, 2 फरवरी 2008)

पाठ्यपुस्तक में छपे किसी लेख को पढ़ने में कितना वक्त लगता है। कुछ मिनट ...मान लें कि एकाध घण्टा। और उसे समझ में आने में कितना वक्त लगता है... जैसे आमजनों की बात करें तो वे शायद थोड़े में ही समझ सकते हैं, लेकिन अगर विशेष जन हों तो शायद 4-5 साल से भी अधिक वक्त लग सकता है।

अगर यह बात अविश्वसनीय लगती है तो आप की मर्जी, अलबत्ता सूबा उड़ीसा में पिछले दिनों यही वाक्या सामने आया और वर्ष 2003 से उड़ीसा भर के शिक्षा संस्थानों में पढ़ायी जा रही एक किताब अचानक विवादास्पद हो उठी। बताया जाता है कि जनवरी के आखिर में भुवनेश्वर से बमुश्किल 60 किलोमीटर दूर सालेपुर के एक कार्यकर्ता को यह बात समझ में आयी और उसने प्रथम सूचना रिपोर्ट दायर की। बजरंग दल, विहिप जैसी हिन्दुत्व की अतिवादी जमातों ने जगह-जगह प्रदर्शन शुरू किए, किताब के लेखक को गिरफ्तार करने की मांग की, किताब की प्रतियां जलायी।

लेकिन इस पूरे प्रसंग में हिन्दुत्व ब्रिगेड की सभी जमातों ने अपने आप को औपचारिक हंगामे तक ही सीमित रखा। इसकी वजह यह थी कि उड़ीसा में पिछले सात-आठ साल से बिजू जनता दल के साथ सहयोगी के तौर पर खुद भाजपा भी शामिल है। और उसी के कोटे से शिक्षा मंत्री बना है, बचपन से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा में गए समीर डे इस पद पर विराजमान है।

निश्चित ही यह समूचा प्रसंग उड़ीसा में विगत कई दशकों से सक्रिय हिन्दुत्व के कार्यकर्ताओं की बौद्धिक क्षमता पर भी नए प्रश्न चिन्ह खड़े करता है जो उन्हें इस हिस्से पर

गौर करने में पांच साल लगे।

फिलवक्त चूँकि यह मामला बड़ा बना हुआ है इसलिए अपने आप को असुविधाजनक स्थिति में पा रहे उड़ीसा के मुख्यमंत्री जनाब नवीन पटनायक ने आनन-फानन में मॉनीटरिंग कमेटी बना कर उसे यह जिम्मा सौंपा है कि वह तमाम पाठ्यपुस्तकों की नये सिरे से पड़ताल करे। अपनी झेंप मिटाने में मुब्तिला समीर डे ने यह भी चेतावनी दी है कि हम कानूनी सलाहकारों से बात कर रहे हैं कि इस मसले पर क्या किया जा सकता है। उम्मीद यही की जा रही है कि मामले को रफा-दफा कर दिया जाएगा और बात आई-गई हो जाएगी।

बात जो भी हो लेखक को इस मामले में दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उन्होंने अपनी पाण्डुलिपि शिक्षा मंत्रालय को सौंपी होगी, जिस पर संघ के स्वयंसेवक समीर डे के मातहत काम कर रहे अधिकारियों ने इस पर लम्बी-चौड़ी टिप्पणी भेजी होगी और फिर किताब प्रकाशन के लिए निर्देश जारी हो गए होंगे।

लेकिन क्या यह पहला मौका है जब संघ-भाजपा के कर्णधारों को अपनी ही लिखी चीजें वापस लेनी पड़ रही है।

भाजपा के पचीस साल पूरे होने पर आयोजित भव्य समारोह के दौरान इनके द्वारा प्रकाशित किये गये 16 खण्ड की रचनाओं के बहाने उनकी इसी किस्म की बदहवासी सामने आयी थी। जैसा कि एक राष्ट्रीय अखबार ‘इण्डियन एक्सप्रेस’ (9 मई 2006) ने उन दिनों रिपोर्ट लिखी थी : ‘भाजपा के पचीस साल पूरे होने पर आयोजित मुम्बई के समारोह में जारी किये गये सोलह खण्डों में से एक खण्ड का चार महीनों बाद वापस लिये जाने को लेकर रहस्य गहराता ही जा रहा है। यह

श्रृंखला, जिसे वरिष्ठ भाजपा नेता जे. पी. माथुर की निगरानी में इतिहासकार माखनलाल ने लिखा था, उसकी प्रस्तावना विपक्ष के नेता लालकृष्ण आडवाणी ने लिखी थी।

जहां प्रश्नांकित खण्ड 'आरएसएस और भारतीय जनसंघ की स्थापना का इतिहास' को वापिस लिये जाने का मामला मुद्दा-ए-बहस बना था, वहीं यह भी कम दिलचस्प नहीं था कि आज की तारीख तक भाजपा की ओर से इसके बारे में कोई 'आधिकारिक' स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। संघ के पूर्व प्रवक्ता राम माधव की बातों से अन्दाज़ा लगाया जा सकता था कि माखनलाल द्वारा लिखे गये इस खण्ड में संघ और भारतीय जनसंघ की स्थापना को लेकर जो टिप्पणियां की गयी थी, वह 'परिवार के मुखियाओं' को नागवार गुजरी थीं। वही माखनलाल, जिन्हें पूर्व मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने इतिहास की उन किताबों को 'सुधारने' का जिम्मा सौंपा था, जिन्हें रोमिला थापर, इरफान हबीब, के. एन. पणिकर जैसे विश्वविख्यात इतिहासकारों ने तैयार किया था। अपने नाम पर किसी गम्भीर शोध के न होने के बावजूद यह गुरूतर जिम्मेदारी उन्हें इसी वजह से मिली कि वह संघ के विचारों के करीबी माने गये थे।

ऐसा क्या आपत्तिजनक लिखा गया था इन टिप्पणियों में! दरअसल इसमें यही लिखा गया था कि इनकी स्थापना मुस्लिमविरोधी ताकतों के रूप में की गयी थी।

संघ के उद्गम में निहित मुस्लिम विरोध के अलावा संघ के आकाओं को किताब के उन सन्दर्भों से भी आपत्ति हुई बतायी गयी थी, जो एक अन्य अख़बार के मुताबिक (द टेलिग्राफ, मई 10, 2006) 'जिसमें ऐसे सन्दर्भ शामिल हैं जो संघ को भी कुछ ज्यादा ही मुस्लिम विरोधी जान पड़ते हैं। ('Contains references that are too anti-muslim even for the RSS') महात्मा गांधी को भी 'मुस्लिम तुष्टीकरण का जनक बताया जाना' संघ के लोगों को नागवार गुजरा है। यह तो सभी के लिए स्पष्ट है कि महात्मा गांधी की हत्या के लिए 'हिन्दुत्व' का जो फलसफा जिम्मेदार रहा है, उसको मानने वाले इन दिनों महात्मा गांधी को अपने आप में समाहित करने की कवायद में जुटे हैं। यह अकारण नहीं कि संघ की शाखाओं के प्रातः स्मरणीयों में महात्मा गांधी का नाम भी शामिल किया गया है।

वैसे चाहे उड़ीसा के पाठ्य पुस्तक वापसी का मामला हो या भाजपा सम्मेलन के अवसर पर जारी एक खण्ड को वापस

करने का मामला हो, किताब वापसी के ये प्रसंग उस मामले में छोटे दिखते हैं जब हम संघ के इतिहास पर गौर करते हैं, खासकर संघ के द्वितीय सुप्रीमो द्वारा रचित एक किताब की बात पर लौटते हैं।

संघ के विकास में जिन सैद्धान्तिक अवदानों के लिये गोलवलकर को याद किया जाता है, उसमें 1938 में ही सामने आयी उनकी किताब 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड' का अहम स्थान है। इस किताब में उनके उस समय के चिन्तन की झलक साफ दिखती है, जहां वे हिटलर द्वारा अंजाम दिये जा रहे यहूदियों के नस्लीय शुद्धिकरण की हिमायत करते हैं और भारत में आयी 'विदेशी नस्लों' के हिन्दू नस्ल में समाहित किये जाने की पुरजोर वकालत करते हैं। इस किताब में लिखे गये उनके विचार उनके अनुयायियों को भी आज इतने विवादास्पद जान पड़ते हैं कि उन्होंने इससे दूरी बनाये रखने में ही भलाई समझी है। संघ के बौद्धिकों में तथा उनके प्रकाशनों में भी यही बात इन दिनों कही जाती है कि यह किताब दरअसल गोलवलकर गुरूजी ने लिखी नहीं है बल्कि वह बाबाराव सावरकर की किताब 'राष्ट्र मीमांसा' का अनुवाद मात्र है।

अब यह जुदा बात है कि 22 मार्च 1939 को 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड' को लिखी अपनी प्रस्तावना में गोलवलकर इस बात को खुद स्पष्ट करते हैं कि प्रस्तुत किताब के लेखन में 'राष्ट्र मीमांसा' मेरे लिये एक प्रेरणास्रोत रही है। मशहूर अमेरिकी विद्वान जीन ए करन जिन्होंने पचास के दशक में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में 'मिलिटेंट हिन्दूइज्म इन इण्डियन पॉलिटिक्स : ए स्टडी ऑफ द आर एस एस' जो किताब प्रकाशित की तथा जिसमें वे संघ के प्रयोग को बेहद सहानुभूति के साथ देखते हैं, वे भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि गोलवलकर ने 77 पेज की यह किताब तब लिखी जब वे सरकार्यवाहक बने। वे इस किताब को संघ की बाईबिल भी कहते हैं। इतना ही नहीं संघ के अग्रणी नेता राजेन्द्र सिंह और भाऊराव देवरस ने 1978 में इस किताब के बारे में एक आधिकारिक वक्तव्य भी दिया था। सरकार के सामने पेश किये अपने आवेदन में वे लिखते हैं 'अनादि काल से ऐतिहासिक तौर पर भारत एक हिन्दू राष्ट्र रहा है इस विचार को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिये श्री माधव सदाशिव गोलवलकर जी ने 'वी आर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड' नाम से एक किताब लिखी थी।'

बराबर काम, बराबर दाम!

■ अंजलि सिन्हा

बीस साल से दिल्ली हाई कोर्ट में चल रहे एक मुकदमे का फैसला अप्रैल के तीसरे सप्ताह में आया। सुपर बाजार को-ऑपरेटिव स्टोर्स लिमिटेड की 50 महिलाओं ने एकजुट होकर बराबर काम का बराबर वेतन देने की मांग को लेकर अप्रैल 1987 में कोर्ट में अपील की थी। इन महिलाओं का काम अपने पुरुष सहकर्मियों के समकक्ष था। वे स्टोर्स में पैकिंग का काम करते थे। इन्हें बेसिक वेतन रु. 150-330 मिलता था जबकि पुरुष श्रमिकों को उसी काम के लिये रु. 180-440 मिलते थे। लम्बी चली इस कानूनी प्रक्रिया के दौरान इस मुद्दे को उठाने वाली महिलाओं में से आधा दर्जन कर्मचारी इस दुनिया से रुखसत भी हो गयी, लेकिन उनका संघर्ष बेकार नहीं गया। वे कोर्ट-कचहरी का चक्कर काटती रहीं और को-ऑपरेटिव स्टोर्स में काम करने वाली महिलाओं को न्याय दिलाने में अपनी अहम भूमिका दर्ज कर गयी। यह मसला उठाने वाली सभी पचास महिलाओं को को-ऑपरेटिव यूनियन के लम्बे संघर्ष के बाद सन 1984 में ही नियमित कर्मचारी का दर्जा मिल गया था। उससे पहले वे दिहाड़ी कर्मचारी थी। मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली दो सदस्यीय खण्डपीठ ने कहा कि यह विषमतापूर्ण प्रथा महिलाओं के साथ लैंगिक भेदभाव है और उनकी मांग जायज है।

ज्ञात हो कि हमारे संविधान का अनुच्छेद 15 यह व्यवस्था देता है कि भारत का हर एक नागरिक लैंगिक तथा जातीय भेदभाव से मुक्त जीवन का अधिकारी है। अर्थात् ऐसे भेदभाव करना कानूनी अपराध माना जायेगा। लेकिन यहां की महिलाएं नागरिक होते हुए भी आसानी से और धड़ल्ले से आर्थिक शोषण की शिकार होती आयी हैं।

असंगठित क्षेत्र में यह भेदभाव अधिक देखने को मिलता है। आज भी कुशल श्रमिक के रूप में महिलाएं कुल श्रमशक्ति में बराबर का हिस्सेदार नहीं बन पायी हैं। श्रम मन्त्रालय की एक रिपोर्ट इस बात का खुलासा करती है। रिपोर्ट के मुताबिक सन 2001 की जनगणना के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या 12 करोड़ 72 लाख है जो उनकी कुल संख्या 49 करोड़ 60 लाख का चौथा (25.60 प्रतिशत) हिस्सा ही हुआ। इनमें भी अधिकांशतः ग्रामीण क्षेत्र में हैं और उनका प्रतिशत ऊपर दी हुई कुल महिला श्रमिकों की संख्या का तीन हिस्से से भी ज्यादा (87 प्रतिशत) कृषि सम्बन्धी रोजगार में हैं। रिपोर्ट के अनुसार शहरी क्षेत्र के रोजगार में तीन हिस्से से भी ज्यादा (80 प्रतिशत) महिला श्रमिक घरेलू उद्योग, लघु व्यवसाय सेवा तथा भवननिर्माण में लगी हैं। कहा गया है कि सरकार ने महिला श्रमिकों के काम की गुणवत्ता में सुधार लाने तथा उनकी स्थिति बेहतर बनाने के लिये कई कानून बनाये हैं लेकिन व्यवहार में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है। देश में महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश को छोड़कर, जहाँ क्रमशः महिला श्रमिकों की संख्या 11.90, 10.34 और तथा 10.07 हैं बाकी अधिकतर राज्यों में कुल श्रमिकों की तुलना में महिला श्रमिक एक फीसदी से भी कम है।

महिलाओं के लिए सार्वजनिक दायरे में रोजगार उपलब्ध कराने की बात जब भी चलती है, तो एक अन्य अहम मुद्दा सामने आता है और वह है रात की पाली में स्त्री के काम करने का। निश्चित ही इस पर समाज में एकमत नहीं है। कुछ की राय होती है कि जब तक समाज में पूर्ण सुरक्षा का माहौल न बन जाये तब तक

यह खतरा बना रहेगा तो कोई अगर-मगर के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकारता दिखता है। जानने योग्य है कि 1961 का फैक्ट्री एक्ट महिलाओं को रात की पाली में काम करने की अनुमति नहीं देता था। हालांकि सरकार ने पिछले साल ही केन्द्रीय स्तर पर फैक्ट्री कानून में संशोधन कर रात की पाली में स्त्री को काम पर रखे जाने को स्वीकृति दी है।

रात की पाली में स्त्री के काम नहीं करने के पीछे जो सबसे बड़ा तर्क दिया जाता है वह सुरक्षा का है। और यह हकीकत भी है कि औरत के लिए वातावरण सुरक्षित नहीं है। लेकिन अगर आंकड़ों की पड़ताल करें तो स्त्री के लिए महज सार्वजनिक दायरा ही नहीं बल्कि निजी दायरा भी असुरक्षित है।

मसला सिर्फ रात में काम करने का नहीं है बल्कि उसे सभी दायरों में पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने का है। इसके उलट जब भी रात में स्त्री यौन हिंसा का शिकार होती है तो झट से औरत को रात को अकेले बाहर नहीं निकलने की उपदेशात्मक बात की जाती है, कोई इस पर आत्ममंथन नहीं करता कि हमारे समाज में इतनी हिंसा क्यों है?

संविधानप्रदत्त अधिकार को आधार बनाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 1997 में महिलाओं के लिए कार्यस्थल सुरक्षित किये जाने को लेकर एक ऐतिहासिक फैसला दिया और कार्यस्थल को सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी सरकार तथा नियोक्ता पर डाली। यदि नियोक्ता तथा प्रशासन अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते तो इसका खामियाजा क्या औरत को ही भुगतना चाहिए ?

रोजगार के अवसर उपलब्ध करना एक महत्वपूर्ण मसला है और लोग यह नहीं सोचते कि रात की पाली में स्त्री के काम पर प्रतिबन्ध लगाना उनके अवसरों को छीनने जैसा है। इसके अलावा सार्वजनिक दायरे में पुरुषों की उपस्थिति जितनी जरूरी है उतनी ही स्त्रियों की भी आवश्यक है। व्यावहारिक तौर पर देखें तो यह कानून वैसे भी सभी क्षेत्रों में लागू नहीं होता था जैसे अस्पताल में

कार्यरत डाक्टर/नर्स या कॉल सेन्टर में काम करने वाली लड़कियां/स्त्रियां या मीडिया में कार्यरत महिलायें आदि पहले से ही उसके दायरे के बाहर समझी गयी थीं।

यह बात रेखांकित करने लायक है कि कुल श्रम का अधिक हिस्सा महिलाओं के जिम्मे होता है लेकिन यह श्रम उनके श्रमिक होने के पैमाने को पूरा नहीं करता है। उनका अधिकांश काम “अपना” कहे जाने वाले घर के अन्दर का होता है। वह अवैतनिक तो होता ही है ऊपर से उसकी कोई समय सीमा या शिफ्ट निर्धारित नहीं होती है। इस बात का सभी को पता है कि महिलाओं के हिस्से में कुल श्रम का बड़ा हिस्सा निजी दायरे का होता है जो अवैतनिक होता है। चूंकि सवैतनिक काम ही श्रमिक या कामगार होने की शर्तें पूरी करता है या उन्हें ही इस श्रेणी में रखा जाता है इसलिये जरूरी है कि सवैतनिक तथा अवैतनिक कामों का बँटवारा स्त्री-पुरुष में समान रूप से हो तभी श्रम क्षेत्र में असमानतापूर्ण विभाजन खत्म होगा।

हमारा समाज पुरुष प्रधान है और इसलिये सवैतनिक या सार्वजनिक दायरे का श्रम पुरुष समुदाय के हिस्से में अधिक आ गया तथा घर के अन्दर शेष समाज से कटा अवैतनिक काम महिलाओं के हिस्से आ गया। श्रमिक होने का अधिकार मिलना यानि काम करने का अवसर मिलना है और हमारे समाज में पद, प्रतिष्ठा, पैसा सामाजिक हैसियत तय करता है। इसीलिये सामाजिक बराबरी स्त्री और पुरुष के बीच तभी सम्भव है जब कि अवसर भी बराबर का उपलब्ध हो। इसके लिये जरूरी है कि एक तो सरकार द्वारा कानूनन हर क्षेत्र में बराबर का अवसर दिया जाय तथा दूसरे सामाजिक स्तर पर ऐसे प्रयास हों तथा अभियान चले कि महिलायें अधिक से अधिक सार्वजनिक दायरे में प्रवेश कर कुशल कामगार का दर्जा हासिल करें। (लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से सम्बद्ध हैं एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं)

क्या भोपाल गैस पीड़ितों के साथ कभी इन्साफ हो सकेगा?

■ सुभाष गाताड़े

क्या केन्द्र में सत्ता में आने के लिए व्याकुल मुल्क की प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा ने डाऊ केमिकल्स नामक विवादास्पद बहुउद्देशीय कम्पनी से 2,500 डॉलर का चन्दा पिछले दिनों लिया है? पिछले दिनों सूचना के अधिकार के तहत दिल्ली के एक नागरिक द्वारा चुनाव आयोग के समक्ष दायर याचिका के सन्दर्भ में खुद चुनाव आयोग ने ही इस स्थिति को स्पष्ट किया है। आयोग ने वर्ष 2005-2007 के बीच विभिन्न पार्टियों को मिले चन्दे का विवरण उपलब्ध किया है। (इण्डियन एक्सप्रेस, 13 जून 2008)

एक ऐसे समय में जबकि भोपाल गैस पीड़ित न्याय के लिए अपनी लड़ाई को राजधानी की सड़कों तक ले आए हैं और कई गैस पीड़ित आमरण अनशन पर बैठे हैं, उस वक्त हुए इस पर्दाफाश ने निश्चित ही भाजपा को बचावात्मक पैंतरा अख्तियार करने के लिए मजबूर किया है।

वैसे प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा के लिए एकमात्र सुकून की बात यही हो सकती है कि सत्ता में बैठी कांग्रेस ने भी गैस पीड़ितों के दुखदर्द के प्रति उसी किस्म की बेरुखी और असंवेदनशीलता का परिचय दिया है। इतना ही नहीं पिछले दिनों उसके एक केन्द्रीय मंत्री कमलनाथ पर यह आरोप भी लगे कि उन्होंने अमेरिका की अपनी तकरीर में डाऊ केमिकल्स को बचाने की कोशिश की। बताया जाता है कि उपरोक्त मंत्री महोदय ने यूनियन कार्बाइड की यूनियोल टेक्नोलॉजी को रिलायन्स टेक्नोलॉजी बेचने के प्रति अपनी सहमति दी, जबकि वह यह जानते थे कि वह एक भगोड़े अपराधी की बौद्धिक सम्पदा की बिक्री पर अपनी मुहर लगा रहे थे। यह अकारण नहीं था कि गैस पीड़ितों ने यह ऐलान कर दिया है कि वे कमलनाथ के चुनाव क्षेत्र में जाकर मतदाताओं को इस बात से अवगत कराएंगे।

प्रश्न निश्चित ही उठता है कि बहुउद्देशीय कम्पनियों के आगमन के लिए रेड कार्पेट बिछाने वाले हमारे समाज में आखिर डाऊ केमिकल्स नामक अमेरिकी बहुउद्देशीय कम्पनी अब एक खराब नाम क्यों है? और आखिर क्यों भारत में

उसके प्रवेश के खिलाफ जगह-जगह लोग गोलबन्द होते दिख रहे हैं। पिछले दिनों जब डाऊ केमिकल्स ने पुणे के चाकण के पास तीन सौ करोड़ रुपए की लागत से अपनी रिसर्च फैसिलिटी का निर्माण करना चाहा तो आसपास के ग्रामीणों ने वहां तक पहुंचने वाली सड़कों को ही काट दिया और अपनी एकताबद्ध कार्रवाई सरकार को डाऊ के प्रस्ताव पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। (जनवरी 2008) इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों के साथ सहयोग कायम करने के डाऊ के इरादे भी धरे के धरे रह गए। भोपाल गैस काण्ड से सम्बन्धित मसलों को सही ढंग से हल न करने का आरोप लगाते हुए देश के इन प्रतिष्ठित इंजीनियरिंग संस्थानों के विद्यार्थियों और अध्यापकों ने मिल कर इस कम्पनी के साथ किसी भी किस्म के रिश्ते कायम करने से मना कर दिया।

मालूम हो कि अमेरिकी बहुउद्देशीय कम्पनी डाऊ केमिकल्स ने वर्ष 2001 में 'हत्यारी' यूनियन कार्बाइड कम्पनी को खरीदा और अब वह गैस पीड़ितों के प्रति किए अपने वायदों से मुकर रही है। डाऊ का दावा है कि उसने सिर्फ कार्बाइड कम्पनी की सम्पत्ति खरीदी है, देनदारियां नहीं। मई 2005 में जब रसायन मंत्रालय ने बन्द हो चुकी यूनियन कार्बाइड कम्पनी के परिसर में पड़े जहरीले कचरे को हटाने के लिए मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में याचिका दायर की और इस सफाई के लिए डाऊ से 100 करोड़ रुपए की मांग की, तबसे डाऊ केमिकल्स ने यूनियन कार्बाइड की इन देनदारियों से पल्ला झाड़ने के लिए कानूनी सुरक्षा हासिल करने की कवायद शुरू की।

23 साल से अधिक समय हो गया जब कीटनाशक बनाने वाली भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड की फैक्टरी ने मेथाइल आइसोसाइनेट जैसे जहरीले गैस से बना टनों धुआं उगला था, जो विश्व की अब तक की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना जानी गयी। ऐसे लोग जो इस जहरीले गैस काण्ड के पीड़ितों को राहत दिलाने के लिए सक्रिय रहे हैं, उनके

मुताबिक विगत 23 सालों में इसके चलते 23 हजार से अधिक लोग मारे गए हैं और आज भी एक लाख से अधिक लोग जीवित हैं जो विभिन्न किस्म की बीमारियों से परेशान हैं।

इससे बड़ी त्रासदी क्या हो सकती है कि इस विभीषिका के 23 साल बाद बन्द हो चुकी फैक्टरी के आसपास रहने वाले 25 हजार से अधिक लोगों को वहां जमा हजारों टन जहरीले कचरे से रिसकर पहुंचने वाला विषाक्त पानी ही पीना पड़ रहा है। स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने इस बात को भी नोट किया है कि इस आबादी में कैंसर का भी बढ़ा अनुपात दिखता है और गैस पीड़ित माता-पिता ऐसी सन्तानों को जन्म दे रहे हैं जो जन्म से ही कुछ विकलांग हैं।

यह सबके सामने है कि जहां इस प्रचण्ड विभीषिका के लिए यूनियन कार्बाइड पर कभी आपराधिक मुकदमा नहीं कायम हो सका, यहां तक कि उसका मालिक जैक एण्डरसन फरार ही घोषित किया जाता रहा, उसके वर्तमान मालिक डाऊ केमिकल्स ने भी न कभी यूनियन कार्बाइड को अदालत में हाजिर करवाया, और न ही जहरीला कचरा हटाने के लिए मुआवजा दिया।

एक साधारण व्यक्ति भी बता सकता है कि हिन्दोस्तां के शासकवर्ग की पार्टियों की आपसी सहमति के बिना - फिर वह चाहे कांग्रेस हो या भाजपा हो या उनके सहयोगी दल हों - इस कॉर्पोरेट अपराध से बच निकलना मुश्किल था। गैस पीड़ितों को इन्साफ दिलाने में सक्रिय लोगों के मुताबिक इस बात के दस्तावेजी प्रमाण भी उपलब्ध हैं कि भारत सरकार एवं अमेरिकी बहुउद्देशीय कम्पनियों की आपसी सांठगांठ के चलते ही अभी तक भोपाल गैस पीड़ितों के साथ न्याय नहीं किया गया है।

यह तथ्य कम विचलित करने वाला नहीं है कि भोपाल गैस पीड़ितों के सही स्वास्थ्य के प्रति अधिकार को संवैधानिक अधिकार घोषित करने के सुप्रीम कोर्ट के आदेश की सरकारों ने अब तक अवहेलना की है। न उसने क्रिमिनल कोर्ट के इस आदेश पर अमल किया है कि वह भगोड़ी यूनियन कार्बाइड को हाजिर कराए और न ही उसने सुप्रीम कोर्ट के इस निर्देश का पालन किया है कि गैस पीड़ित माता पिताओं के एक लाख बच्चों का वह बीमा करवाये।

ताज़ा ख़बर यह है कि भोपाल के गैस पीड़ितों ने दिल्ली में आमरण अनशन शुरू किया है ताकि भोपाल पर स्पेशल कमीशन बनाने और डाऊ केमिकल्स/यूनियन कार्बाइड

पर आपराधिक मुकदमा चलाने की उनकी मांग पूरी हो। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि इसको लेकर चुप्पी का षडयंत्र बना हुआ है।

बीते 9 जून को 14 भोपाली बच्चों को 22 अन्य वयस्कों के साथ प्रधानमंत्री कार्यालय के समक्ष शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने के लिए गिरफ्तार किया गया। लेकिन महज इन्हें गिरफ्तार करके पुलिस नहीं रुकी, उसने जन्तर-मन्तर पर बने धरनास्थल पर छापा मार कर लोगों से मारपीट की।

एक तरफ जहां प्रधानमंत्री कार्यालय डाऊ केमिकल्स की कानूनी जवाबदेही की बात करता है, लेकिन जमीनी स्तर पर मामला वहीं रुका दिखता है। सूचना के अधिकार के तहत हासिल प्रधानमंत्री कार्यालय के एक आन्तरिक दस्तावेज के मुताबिक (7 फरवरी 2008) 'डाऊ केमिकल्स ने भले ही यूनियन कार्बाइड को किसी तरीके से हासिल किया हो, लेकिन अगर कोई कानूनी देनदारी/जवाबदेही है, तो डाऊ केमिकल्स को उसका पालन करना पड़ेगा।' प्रस्तुत दस्तावेज डाऊ द्वारा शेरधारकों के सामने रखी बात के विपरीत है और भारत में डाऊ केमिकल्स के निवेश के रास्ते में खड़ी बाधाओं को उजागर करता है। इन दिनों डाऊ केमिकल्स पर एक अन्य मुकदमा भी चल रहा है, जहां उन पर यह आरोप लगा है कि तीन जहरीले कीटनाशकों का पंजीकरण करवाने के लिए उसने भारत के कृषि मंत्रालय के अधिकारियों को घूस दी। भारत की दण्ड संहिता के मुताबिक "घूस" एक अपराध है जिसके लिए एक साल बामशक्कत कैद की सज़ा दी जा सकती है।

अन्त में, गैस-पीड़ित माता-पिता के घर में जन्मी यास्मीन एक तरह से भोपाल में आज भी जारी त्रासदी का जीवित रूप है। उसको हार्मोनल असन्तुलन और चमड़े तथा पेट की समस्या है। यह छोटी सी बच्ची सुदूर भोपाल से चली पदयात्रा में शामिल होकर यहां आयी है। उसे बस इतना ही इन्तज़ार है कि बन्द पड़ चुकी कार्बाइड फैक्टरी के पीछे स्थित शिव मन्दिर नामक उसकी बस्ती में एक न एक दिन साफ पानी पहुंचेगा और विषाक्त पानी से उसे मुक्ति मिलेगी।

बेचारी यास्मीन, अभी भी इन्तज़ार में है कि प्रधानमंत्री चाचा उसे तथा उसके जैसे भोपाल से आए अन्य बच्चों को भी मिलने का समय देंगे। वह जल्द ही जान जाएगी कि प्रधानमंत्री कार्यालय के लोहे के दरवाजे कॉर्पोरेट अपराधी के समक्ष तो सजदा कर सकते हैं, लेकिन वे कभी यास्मीन जैसी बच्ची को उसके अन्दर जाने नहीं देंगे।

मौजूदा युद्ध और इंसाफ़ की चाहत

■ मेरी बी. एण्डरसन

प्रस्तुत लेख मेरी.बी. एण्डरसन की किताब 'आघात न पहुंचे' जो कि पिछले वर्ष आई.एस.डी. द्वारा हिंदी में प्रकाशित की गई थी, से अनुदित है। इस पुस्तक के कई हिस्से ऐसे हैं जो हम जैसे कार्यकर्ताओं के लिए बेहद उपयोगी हैं। युद्ध की प्रकृति को समझना, उनके पीछे काम कर रही ताकतों की निशानदेही करना और युद्ध जारी क्यों रहते हैं इस तथ्य को समझना हम लोगों के लिए अत्यावश्यक है। मेरी. एण्डरसन ने एक लंबे समय के अध्ययन के बाद इन मुद्दों को अपने लेखन का मुद्दा बनाया। इस पुस्तक के अन्य हिस्से समर्थ के आगामी अंकों के द्वारा आप तक पहुंचते रहेंगे।

इस पूरी पुस्तक में हम ज़ोर देकर यह कहना चाह रहे हैं कि संघर्ष से आच्छादित किसी भी परिदृश्य में दी जाने वाली अंतर्राष्ट्रीय सहायता को आग में घी डालने का काम नहीं करना चाहिए, और न ही संघर्ष को बढ़ाने का काम करना चाहिए। इस दृष्टिकोण को अकसर चुनौती दी जाती है। अनेक लोग महसूस करते हैं कि संघर्ष फायदेमंद हो सकते हैं उनका दावा है कि मात्र संघर्ष से बचने के लिए संघर्ष नहीं करना ग़लत मानसिकता है क्योंकि लोग महत्वपूर्ण उद्देश्य हासिल करना चाहते हैं। इंसाफ़ की लड़ाई में शामिल लोगों को समर्थन न देकर हम नाइंसाफी के वर्तमान स्तर को ही समर्थन दे रहे होते हैं। गैर-सरकारी संगठनों को साफ़तौर पर उनके पक्ष में खड़े होना चाहिए जो ग़रीब हैं और हाशिए पर पहुंचा दिए गए हैं, और समाज जिनके साथ सौतेला व्यवहार करता है। साथ ही उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता इंसाफ़ की दिशा में चल रहे व्यवस्थित बदलाव के पक्ष में होनी चाहिए, ना कि ऐसी व्यवस्था के लिए जो लोगों को महज़ ज़िंदा रखती है, बस ! नाइंसाफी को झेलते हुए ज़िंदा रहने के लिए।

हम इन सिद्धांतों से सहमत हैं। हालांकि हाल के वर्षों में अनेक संघर्षों में हमारी शिरकत के चलते हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अगर इंसाफ़ के बग़ैर शांति का अस्तित्व नहीं है तो यह भी सच है कि मौजूदा अनेक युद्धों के उद्देश्यों या तरीकों या फिर दोनों के ही द्वारा इंसाफ़ को रौंदा गया है या फिर इसके वजूद को ही नकार दिया गया है। यह मान लेना सरासर ग़लत होगा कि हमेशा संघर्ष में लगे रहने वाले लोग उन महत्वपूर्ण कारणों से संघर्ष में सक्रिय होते हैं जो हमारे समर्थन के लायक हैं। इस अध्याय में हम बता रहे हैं कि अनेक संघर्षशील समाजों में हमने क्या देखा और क्या सुना जो हमारे इस दावे का सबब बना।

आगे बढ़ने से पहले परिभाषा संबंधी एक महत्वपूर्ण अंतर को बताना ज़रूरी है। हम जिस संघर्ष की खिलाफत करते हैं या जिसे चुनौती देते हैं वो हिंसक और तबाही करने वाला संघर्ष है।

कुछ लोग 'संघर्ष' शब्द का इस्तेमाल गुणात्मक असहमतियों और आंदोलनों के लिए करते हैं। बातचीत को आसान बनाने के लिए हम इस शब्द का इस्तेमाल नकारात्मक, नुक़सानदेह और ज़्यादातर हिंसक संवाद के अर्थ में कर रहे हैं।

यह अध्याय पांच भागों में विभाजित है। इसमें सबसे पहले हमने युद्ध करने की इच्छाशक्ति पर चर्चा की है और वो उदाहरण दिए हैं जो इस पूर्वाग्रह पर सवाल खड़ा करते हैं कि युद्ध के पीछे जो मूल कारण होते हैं वे हमेशा ही शालीन होते हैं। हमने प्रभावी औज़ार के रूप में युद्ध को मिलने वाले व्यापक समर्थन पर भी सवाल खड़े किए हैं। इसके बाद हमने उपयुक्त परिणाम हासिल करने के लिए हिंसा के इस्तेमाल को चुनौती देने वाले अनेक हालिया युद्धों की विभिन्न विशेषताओं का जायज़ा लिया है। और इसके बाद यह चर्चा चलाई गई है कि मौजूदा युद्धों से किसे नफ़ा होता है और किसे नुक़सान और इस बात पर सोच-विचार किया गया है कि अलोकप्रिय और हेरा-फ़ेरी का शिकार होने के बावजूद युद्ध क्यों और कैसे जारी रहते हैं। अंत में हमने इस बात पर चर्चा चलाई है कि यह क्यों ज़रूरी है कि सहायता प्रदान करने वाले कर्मचारी इन मुद्दों को समझें और समझदारी के साथ ठीक-ठीक उन संघर्षमय स्थितियों में सक्रिय ताक़तों की समीक्षा करें जिन स्थितियों में वे सहायता देते हैं।

युद्ध क्यों लड़े जाते हैं

युद्ध अच्छे और बुरे कारणों के लिए लड़े जाते हैं, और ज़्यादातर युद्ध दोनों ही कारणों का मिला-जुला रूप होते हैं। महान साझा उद्देश्य से लेकर व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति जैसी परस्पर विरोधी प्रेरणाओं के बीच के संतुलन को समझना सहायता देने वाले ऐसे कर्मचारियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है जो यह गुत्थी सुलझाना चाहते हैं कि उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता किस तरह से संघर्ष से मुख़ातिब होती है और उसे प्रभावित करती है।

सोदेश्य युद्ध

ज्यादातर लोग मानते हैं कि 'युद्ध नरक है' और इससे परहेज़ किया जाना चाहिए, लेकिन किसी भी कीमत पर नहीं, क्योंकि कुछ लक्ष्यों के लिए लड़ना और मर जाना एक महान कार्य है। वे मानते हैं कि मनचाहे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न समाजों को उपलब्ध कूटनीतिक एवम् राजनैतिक रास्तों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए, लेकिन अगर ये रास्ते असफल रहते हैं तो अंतिम हथियार के रूप में युद्ध ही एकमात्र ऐसा विकल्प बचा रहता है जिससे उन उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है जो दूसरे किसी भी तरीके से पूरे नहीं हो पाते हैं।

इस तरह अक्सर हम युद्ध के मूल कारणों पर चर्चा करते हैं। हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि लोग वास्तव में किस लिए लड़े जा रहे हैं, या किसके लिए लड़े जा रहे हैं, ऐसा क्या है जो उनके बलिदान को महान बनाता है।

युद्धों के द्वारा लोगों ने दमनकारी व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंका है, लुटेरे अतिक्रमणकारियों के बढ़ते व्यवहारों को रोका है, ज़मीन के पट्टों के आबंटन के तौर-तरीकों को बदल डाला है और कहीं ज़्यादा राजनीतिक एवम् आर्थिक न्याय हासिल किया है। आज़ादी की लड़ाइयां, किसान आंदोलन और हिटलर पर मित्र सेनाओं की जीत व्यापक सहमति के उद्देश्यों के लिए लड़े गए युद्धों के उदाहरण हैं।

युद्ध पर एक दूसरा नज़रिया

लोग ऐसे उद्देश्यों के लिए भी लड़ते और मरते-मारते हैं जो नीच प्रकृति के होते हैं और न्याय पर आधारित नहीं होते हैं। वे दूसरों को भी ऐसा करने के लिए भेजते हैं। आज दुनिया भर में अनेक नागरिक और सैनिक भी अपने नेताओं पर उन्हें अनुचित युद्धों में टकेल देने का इल्ज़ाम लगा रहे हैं। सन् 1944 में ज़ाग्रेब में एक क्रोशियाई महिला ने हमें बताया- 'निःसंदेह हमारी समस्याएं हैं लेकिन इन समस्याओं को लेकर यह युद्ध नहीं लड़ा जा रहा है। यह युद्ध तो उन लोगों द्वारा चलाया जा रहा है जिन्हें सत्ता और दौलत चाहिए। वे तो अमीर हो जाते हैं और बाकी जनता कष्ट झेलती है। ये सराहनीय 'नेता' नहीं हैं। ये उस समाज का प्रतिनिधित्व कतई नहीं करते हैं जिस समाज में हम रहना चाहते हैं।'

यह विषय-वस्तु एक के बाद एक हर उस देश के लोगों ने दोहराई जो अपने देश में चल रहे युद्धों के बारे में बता रहे थे। चालाकी, धोखाधड़ी, लालसा और व्यक्तिगत सत्ता की कामना जैसे शब्द बार-बार दोहराए गए। अब अगर अफ़गानिस्तान, सोमालिया, लाइबेरिया, रवांडा, ताजिकिस्तान और बोसनिया एवम् हर्ज़ेगोविना का ही उदाहरण लें तो लोगों का कहना है कि जिन प्रक्रियाओं के तहत उन्हें युद्ध में झोंका गया है उन प्रक्रियाओं ने उनके समाज की समस्याओं की ओर ध्यान देने और उनका समाधान करने की बजाय अन्याय और ग़रीबी को अधिक बढ़ाया है और सामाजिक-राजनीतिक ढांचों को कहीं

ज्यादा नुक़सान पहुंचाया है। पहले के और आज के भी अनेक युद्धों की ख़ासियत रही है कि इनके पीछे कोई मूल कारण नहीं होता है और इसीलिए उस कारण के प्रति व्यापक जन प्रतिबद्धता का भी अभाव नज़र आता है। आज बहुत कम ही ऐसा होता है कि ग़रीब और हाशिए पर चले गए लोग एकजुट होकर एक समतामूलक समाज की अपनी दिली ख़्वाहिश को अंजाम देने की ख़ातिर युद्ध करते हैं।

मूलकारणों की अपेक्षा तात्कालिक कारण ज़्यादा महत्वपूर्ण हैं

मूल कारणों की बजाय तात्कालिक कारणों पर ध्यान देने से हम बेहतर ढंग से समझ पाएंगे कि लोग युद्ध क्यों करते हैं। हालिया युद्धों के तात्कालिक कारणों के बारे में हमें क्या जानकारी हासिल हुई है ?

शीत युद्ध के बाद के अनेक युद्धों की शुरुआत सत्ता समीकरणों के गड़बड़ा जाने और सोवियत संघ व द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से चली आ रही अंतर्राष्ट्रीय एवम् आंतरिक नियंत्रण व्यवस्था के बिखराव से पैदा हुई राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक अनिश्चितता के कारण हुई। दुनिया के अनेक हिस्सों में दुनिया के पुराने, जाने-पहचाने ढांचे चरमरा उठे। और ऐसा या तो इस कारण से हुआ कि सोवियत गुट के धराशायी होने से इस गुट में शामिल देशों को नई राजनीतिक गतिविधियों और गठबंधनों के अवसर मिलने लगे या फिर दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिए अमेरिका और रूस के बीच छिड़ी प्रतिद्वंद्विता ने दूसरे देशों को अखाड़ा बनाना बंद कर दिया।

राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक आकांक्षाओं को परवान चढ़ाने के खुले अवसर के चलते नई व्यवस्थाएं व ढांचों को स्थापित करने के प्रति उत्साहित अनेक व्यक्ति व समूह उभर कर सामने आए। वे नेतृत्व के लिए छिड़े राजनीतिक संघर्ष का हिस्सा बन गए। विदेशी नियंत्रण और रुचि के तिरोहित होने से इस प्रक्रिया को अधिक बढ़ावा मिला।

लेकिन बेहतर भावी समाज के निर्माण के लिए कुछ सिद्धांत बनाकर लोगों को संबोधित करने की बजाय इनमें से अनेक सत्ता-लोलुपों ने उसी समाज के कुछ उप-समूहों की पहचान कर उनसे समर्थन की गुज़ारिश की। इन्होंने अपने राष्ट्रीय इतिहास के पन्नों को पलटा और उन विशेषताओं को चुना जो लोगों को एक-दूसरे से अलग करती थीं। उप-समूह आधारित पहचानों के बरक्स ही उन्होंने लोगों को ऐतिहासिक अलगाव की "याद दिलाई" (कभी सच्चाई के रूप में, तो कभी बढ़ा-चढ़ा कर)। कुछ घटनाओं में तो अंतर्समूह वैमनस्य अनेक सालों से था और राज्य के या उन्हें नियंत्रित करने वाले दूसरे तौर-तरीकों के तिरोहित होते ही उसके पुनः सक्रिय होने की पूरी संभावना पैदा हो गई।

ख़ास बात तो यह है कि इन हालातों में जो सत्ता में आना चाह रहे थे वे लोगों को यह भरोसा दिलाने में कामयाब रहे कि दूसरे समूहों के साथ सत्ता का बंटवारा किया ही नहीं जा सकता।

उन्होंने समाज की ऐसी धारणा प्रतिपादित की जिसमें कोई समूह या तो खुद शासन करता है या फिर शासित रहता है। उन्होंने सह-अस्तित्व, सहयोग और सत्ता के साझा बंटवारे की व्यवस्था को असंभव कह कर खारिज कर दिया। यह दिखाने के लिए कि उनका “शासन करो या फिर शासित बने रहो” का दर्शन सच है वे अक्सर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंतर्समूह संकट पैदा करवा देते। लोग खुद को युद्ध में जबरन ढकेल दिए जाने की बात इसी तरह बताते हैं।

मिले-जुले प्रयोजन

कुछ लोग हर एक युद्ध के कारणों में महान उद्देश्यों और मूल कारणों को रखते हैं। “नेतागण” हमेशा ही ऊंचे लक्ष्य की बात करते हैं। संघर्ष में अक्सर सिद्धांत और आत्म प्रशंसा दोनों ही तत्वों का समावेश होता है। कभी-कभी तो युद्ध की शुरुआती जरूरत बदल जाती है, और युद्ध खुद भविष्य के संघर्षों का सबब बन जाता है।

अफगान युद्ध पर चर्चा करते हुए एक अफगानी साथी ने बताया कि यह युद्ध अलग-अलग किस्म के अनेक स्तरों पर लड़ा गया। उसकी नज़र में सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध जिहाद था जिसका नेक मक़सद (बाहरी आक्रमणकारी से आज़ादी पाना) किसी भी दूसरे तरीके से नहीं हासिल किया जा सकता था। सोवियत सेना की वापसी के बाद भी जारी लड़ाई को उसने ऐसे ‘दूसरे युद्ध’ का नाम दिया जिसका मक़सद सत्ता की दौड़ में लगे नेताओं और युद्धस्वामियों की सत्ता की भूख को पूरा करते रहने के अलावा कुछ भी नहीं था। उसका मानना था कि यह दूसरा युद्ध “नापाक़ था क्योंकि मुसलमानों का मुसलमानों से लड़ना ग़लत है।” जब नई उभरी तालिबान नागरिक सेना ने अफगानिस्तान पर कब्ज़ा कर इसके हालात बदलने संबंधी अपना वैचारिक अभियान चलाया तो हालात एक बार फिर बदल गए। हालांकि यह युद्ध एक मक़सद के तहत शुरू हुआ था लेकिन बाद में इसका पतन हो गया और यह व्यक्तिगत सत्ता हासिल करने के लिए ताक़त के इस्तेमाल पर आकर टिक गया। इस संघर्ष की अनेक अफगानियों ने आलोचना की है क्योंकि यह आज भी असंख्य नागरिकों पर कहर ढा रहा है और देश में शांति स्थापित करने में असफल रहा है। कुछ दूसरे लोगों ने इस युद्ध की आलोचना इस आधार पर की है कि यह एक ऐसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था कायम कर रहा है जो न केवल महिलाओं को ही बराबरी का हक़ नहीं देती बल्कि स्त्री-पुरुष दोनों की ही निजी आज़ादी और उनके मानवाधिकारों का हनन करती है, और जो हिंसा एवम् जन प्रताड़ना के माध्यम से देशभर में संकीर्ण मूल्यों को थोपती है। हालांकि नेता और लड़ाकू दोनों ही धार्मिक एवम् वैचारिक स्तर पर उत्प्रेरित हैं, फिर भी इंसानों की उनके द्वारा दी गई परिभाषा उसी जनता द्वारा खारिज कर

दी गई है जिस पर वे शासन चलाना चाहते हैं।

शीत युद्ध के दौरान शुरू हुए कुछ युद्ध अभी भी जारी हैं। हालांकि उन युद्धों को जन्म देने वाला ‘महाशक्ति’ नामक संदर्भ अब ग़ायब हो चुका है, फिर भी धड़ों में पुरानी वैचारिक टकराहट के बचे-खुचे लक्षण दिखाई दे जाते हैं। अंगोला, गॉतेमाला और अल सल्व़ादोर में जारी खींच-तान में अभी भी वो ऐतिहासिक मक़सद मौजूद दिखाई दे जाता है जिसने शुरुआत में इन देशों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया था। हालांकि इनमें से हर एक उदाहरण के बारे में स्थानीय विश्लेषकों का कहना है कि हिंसक घटनाएं अक्सर डाकुओं द्वारा अंजाम दी जाती हैं और ये डाकू चिर-परिचित वैचारिक मुद्राएं इसलिए अख़्तियार करते हैं ताकि “ऐसा लगे” कि उनका मक़सद व्यक्तिगत खुशहाली के इतर है। हमें बताया गया है कि निकारागुआ और ताजिकिस्तान के ग्रामीण इलाकों में सक्रिय कुछ गैंग के सदस्य जो लोग हैं वे पहले परस्पर लड़ते रहे हैं। युद्ध के बाद के काल में वे डाकू बन कर अपने हित साध रहे हैं और इस तरह इंसानों की मौजूदा चाहत पर कुठाराघात कर रहे हैं। वे लड़ना इसलिए जारी रखते हैं क्योंकि लड़ना उनके जीवन का शगल और जीवनयापन का माध्यम बन चुका है।

ज्यादातर लोग इस बात से सहमति जताएंगे कि कुछ युद्ध अवश्य मूल कारण से प्रेरित होते हैं। फ़िलीस्तीन-इज़रायल संघर्ष और पूर्वी तिमोर-इंडोनेशिया के संघर्ष, उत्तरी आयर्लैंड - इंग्लैंड के बीच, श्रीलंका के तमिलों के संघर्ष और टर्की व इराक़ में कुर्दों के संघर्ष कुछ उदाहरण हैं जो राजनीतिक अधिकारों के लिए की गयी ऐतिहासिक जद्दोज़हद और दमनपूर्ण संबंधों के अंत के परिचायक हैं।

फिर भी इन आंदोलनों में भी बातचीत के द्वारा समझौता कर लेने की चिर-परिचित नागरिक समाज की आवाज़ें सुनाई पड़ ही जाती हैं। दोनों पक्ष के अनेक लोग पिछले कठोर रवैयों को खारिज करते हैं और राष्ट्रीय सीमाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं, ज़मीन और सत्ता पर समझौता करने की उत्सुकता अभिव्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि वे अनवरत हत्याओं, बदला लेने के चक्र और समुदायों के बार-बार बेदखल होते रहने को अब पीछे छोड़ देने को तैयार हैं क्योंकि ये प्रक्रियाएं उस न्यायपूर्ण व शांतिमय समाज को हासिल करने के लक्ष्य में बाधक हैं जिसमें वे लोग रहना चाहते हैं।

इस तरह हाल के वर्षों में संघर्ष प्रभावित क्षेत्रों के स्थानीय लोगों से सुनी दास्तान के साथ-साथ हमारे अपने अनुभवों ने भी हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि युद्ध हमेशा या पूरी तरह से मूल कारणों को दूर करने के लिए नहीं लड़े जाते हैं। ज्यादातर युद्ध मिली-जुली प्रेरणाओं और असमान प्रतिबद्धताओं के परिणाम होते हैं। अक्सर युद्ध और न्याय के इसका प्रेरणास्रोत बनने के बीच बहुत सूक्ष्म संबंध होता है।

लकड़ियाँ

■ असगर वजाहत

श्यामा की जली हुई लाश जब उसके पिता के घर पहुँची तो बड़ी भीड़ लग गई। इतनी भीड़ तो उसकी शादी में बिदाई के समय भी नहीं लगी थी। श्यामा की बहनों की हालत अजीब थी क्योंकि वे कुँवारी थीं। श्यामा की माँ लगातार रोये जा रही थी। रिश्तेदार उसे दिलासा भी क्या देते। श्यामा के पिता जली हुई श्यामा को देख रहे थे। उनकी आँखों से आँसू बहे चले जा रहे थे। श्यामा का पति और देवर पास खड़े थे। श्यामा के पति ने श्यामा के पिताजी से कहा—“पापा, आप रोते क्यों है... श्यामा को बिदा करते समय आपने ही तो कहा था कि बेटा तुम्हारी डोली इस घर से जा रही है, अब तुम्हारी ससुराल से तुम्हारी अर्थी ही निकले।” देवर बोला—चाचा जी श्यामा ने आपकी इच्छा जल्दी ही पूरी कर दी।”

श्यामा के ससुर जी बोले—“बेकार समय न बर्बाद करो। अब यहाँ तमाशा न लगाओ। चलो जल्दी क्रिया-कर्म कर दिया जाए।”

2

श्यामा की जली हुई लाश थाने पहुँची तो वहाँ पहले से ही दो नवविवाहिता लड़कियों की जली हुई लाशें रखी थीं। थाने में शान्ति थी। पीपल के पत्ते हवा में खड़खड़ा रहे थे और जीप का इंजन लम्बी-लम्बी साँसें ले रहा था। दरोगा जी को ख़बर की गई तो वे पूजा इत्यादि करके बाहर निकले और श्यामा की जली लाश को देख कर बोले—“यार ये लोग एक दिन में एक ही लड़की को जला कर मारा करें। एक दिन में तीन-तीन लड़कियों की जली लाशें आती हैं। कानूनी कार्यवाही भी ठीक से नहीं हो पाती।”

सिपाही बोला—“सरकार इससे तो अच्छा लोग हमारे गाँव में करते हैं। लड़कियों को पैदा होते ही पानी में डुबो कर मार डालते हैं।” दरोगा बोले—“ईश्वर सभी को सद्बुद्धि दें।”

3

श्यामा की लाश अदालत पहुँची। जब सबके बयान हो गए तो श्यामा की जली लाश उठाकर खड़ी हो गई और बोली—“जज साहब, मेरा भी बयान दर्ज किया जाए।”

श्यामा के पति का वकील बोला—“मीलार्ड, ये हो ही नहीं सकता। जली हुई लड़की बयान कैसे दे सकती है!”

पेशकार बोला—“सरकार यह तो गैरकानूनी होगा।”
क्लर्क बोला—“हज़ूर, ऐसा होने लगा तो क़ानून-व्यवस्था का क्या होगा?”

श्यामा ने कहा—“मेरा बयान दर्ज किया जाए।”
अदालत ने कहा—“अदालत तुम्हारा बयान दर्ज नहीं कर सकती क्योंकि तुम जल कर मर चुकी हो।”

श्यामा ने कहा—“दूसरी लड़कियाँ तो ज़िन्दा हैं।”
अदालत ने कहा—“ये तुम लड़कियों की बात कहाँ से निकाल बैठी।”

4

श्यामा की जली लाश जब अखबार में दफ़्तर पहुँची तो नाइट शिफ्ट का एक सब-एडीटर मेज़ पर सिर रखे सो रहा था। श्यामा ने उसका कन्धा पकड़ कर जगाया तो वह आँखें मलता हुआ उठकर बैठ गया। उसने श्यामा की तरफ देखा और उसे ‘आपका अपना शहर’ पन्ने के कोने में डाल दिया।

श्यामा ने कहा—“अभी तीन साल पहले ही मेरी शादी हुई थी। मेरे पिता ने पूरा दहेज दिया था। लेकिन लालची ससुराल वालों ने मुझे दहेज के लालच और अपने लड़के की दूसरी शादी के लालच में मुझे जला कर मार डाला।”

सब-एडीटर बोला—“जानता हूँ जानता हूँ... वही लिखा है ... हम अख़बार वाले सब जानते हैं।”

“तो तुम मुझे पहले पन्ने पर क्यों नहीं डालते।” श्यामा ने कहा। सब-एडीटर बोला—“मैं तो बहुत चाहता हूँ। तुम ही देख लो। पहले पन्ने पर जगह कहाँ है। लीड न्यूज़ लगी है, देश ने सौ अरब रुपये के हथियार खरीदे हैं। सेकेंड लीड है मंत्रिमंडल ने चाँद पर राकेट भेजने का निर्णय लिया है। आठ आतंकवादी मार गिराये गए हैं। और, सुपर डुपर हुपर स्टार को हॉलीवुड की फिल्म में काम मिल गया है। बाकी पेज पर ‘फिटमफिट अंडरवियर’ है।

“कहीं कोने में मुझे भी लगा दो।” श्यामा बोली।
“लगा देता... पर नौकरी जाएगी।”

5

श्यामा की जली हुई लाश जब प्रधानमंत्री सचिवालय पहुँची तो हड़कम्प मच गया। सचिव-वचिव उठ-उठकर भागने

लगे। संतरी पहरेदार डर गए। उन्हें श्यामा की शक्ल अपनी लड़कियों से मिलती-जुलती लगी। इतने में विशेष सुरक्षा दस्ते वाले, छापामार युद्ध में दक्ष कमांडो आ गए और श्यामा की तरफ बन्दूकें, संगीनों तान कर खड़े हो गए।

पुलिस अधिकारी ने कहा—“एक कदम भी आगे बढ़ाया तो गोलियों से छलनी कर दी जाओगी।”

“मैं प्रधानमंत्री से मिलना चाहती हूँ।”

“प्रधानमंत्री क्या करेंगे... यह पुलिस केस है।”

“पुलिस क्या करेगी?”

“अदालत में मामला ले जाएगी।”

“अदालत क्या करेगी... वही जो मुझसे पहले जलाई गई लड़कियों के हत्यारों के साथ किया है... मैं तो प्रधानमंत्री से मिलकर रहूँगी।” श्यामा की जली लाश आगे बढ़ी।

और अधिक हड़कम्प मच गया। उच्चस्तरीय सचिवों की बैठक बुला ली गई और तय पाया कि श्यामा को प्रधानमंत्री के सामने पेश करने से पहले गृहमंत्री, विदेशमंत्री, वित्तमंत्री, समाज कल्याण मंत्री आदि को बुला लिया जाए। नहीं तो न जाने श्यामा प्रधानमंत्री से क्या पूछ ले कि जिसका उत्तर उनके पास न हो।

6

श्यामा की जली लाश जब बाज़ार से गुज़र रही थी तो लोग अफसोस कर रहे थे।

“यार, बेचारी को जला कर मार डाला।”

“क्या करें यार... ये तो रोज़ का खेल हो गया है।”

“पर यार इस तरह... नब्बे परसेंट जली हैं।”

“अरे यार, इसके पापा को चाहिए था कि मारुति दे ही देता।”

“कहाँ से लाता-उसके पास तो स्कूटर भी नहीं है।”

“तो फिर लड़की पैदा ही क्यों की?”

“इससे अच्छा था, एक मारुति पैदा कर देता।”

7

श्यामा की जली लाश जब अपने स्कूल पहुँची तो लड़कियों ने उसे घेर लिया। न श्यामा कुछ बोली, न लड़कियाँ कुछ बोलीं। न श्यामा कुछ बोली, न लड़कियाँ कुछ बोलीं। न श्यामा कुछ बोली, न लड़कियाँ कुछ बोलीं। खामोशी बोलती रही।

कुछ देर के बाद एक टीचर ने कहा—“आठवीं में कितने अच्छे नम्बर आए थे इसके।”

दूसरी टीचर ने कहा—“दसवीं में इसके नम्बर अच्छे थे।”

तीसरी ने कहा—“आगे पढती तो अच्छा कैरियर बनता।”

श्यामा की लाश होंठों पर उँगलियाँ रख कर बोली—

“शी...शी5... आदमी भी सुन रहे हैं।”

8

श्यामा की जली हुई लाश उन पंडित जी के घर पहुँची जिन्होंने उसे फेरे लगवाये थे। पंडित जी श्यामा को पहचान गए।

श्यामा ने कहा—“पंडित जी, मुझे फिर से फेरे लगवा दो।”

पंडित जी बोले—“बेटी, अब तुम जल चुकी हो। तुमसे अब कौन शादी करेगा?”

श्यामा बोली—“पंडित जी, शादी वाले नहीं, उल्टे फेरे लगवा दो।”

पंडित जी बोले—“बेटी, तुम चाहती क्या हो?”

श्यामा बोली—“तलाक।”

पंडित जी ने कहा—“अरे अब तुम जल चुकी हो। तुम्हें क्या फर्क पड़ेगा तलाक से।”

श्यामा बोली—“हाँ, आप ठीक कहते हैं। उल्टे फेरों से न मुझ पर अन्तर पड़ेगा... न आप पर अन्तर पड़ेगा... न मेरे पति पर फर्क पड़ेगा... पर जिनके सीधे फेरे लगने वाले हैं उन पर तो अन्तर पड़ेगा।”

9

श्यामा की जली लाश भगवान के घर पहुँची तो भगवान सृष्टि को चलाने का कठिन काम बड़ी सरलता से कर रहे थे। श्यामा ने भगवान से पूछा—“सृष्टि के निर्माता आप ही है।?” भगवान छाती ठोंक कर बोले—“हाँ, मैं ही हूँ।”

“संसार के सारे काम आपकी इच्छा से होते हैं।”

“हाँ मेरी इच्छा से होते हैं।”

“मुझे आपकी इच्छा से ही जला कर मार डाला गया था।”

“हाँ, तुम्हें मेरी ही इच्छा से जला कर मार डाला गया था।”

“मेरे पति के लिए आपने ऐसी इच्छा क्यों नहीं की थी?”

“पति परमेश्वर होते हैं। वे जलते नहीं, केवल जलाते हैं।”

10

श्यामा की जली लाश मानव अधिकार समिति वाले के पास पहुँची तो वे सब उठकर खड़े हो गए। उन्होंने कहा—“यह जघन्य अपराध है। हमने इस तरह के बीस हज़ार मामलों का पता लगा कर मुकद्दमे दायर कराए हैं। लेकिन आम तौर पर अपराधी बच निकलते हैं। ये सब जानते हैं।”

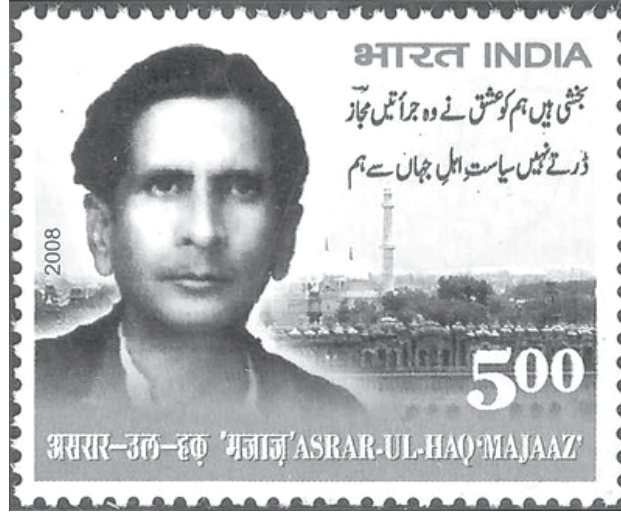
श्यामा बोली—“इसीलिए मैं खामोश हूँ।”

सदस्यों ने कहा—“बोलो, श्यामा बोलो... बोलो... जब तक तुम नहीं बोलोगी, हमारी आवाज़ कोई नहीं सुनेगा।”

अब मिलिए मुसलमान मजाज़ से

■ जावेद नक़वी

सेक्युलरिज्म की ब्राह्मणवादी सोच के दायरे में ये होना ही था कि 28 मार्च को मजाज़ की शान में जारी किए गए एक पांच रूपए के डाक टिकट में साम्राज्यवादी विरोधी और पूंजीवादी व्यवस्था का आलोचक कवि असरार-उल-मजाज़ का खूबसूरत चेहरा दिखे और उस चेहरे के पीछे मस्जिद की तस्वीर नजर आए।



हकीकत तो ये है कि मजाज़ जो कि एक रोमांटिक और अनीश्वरवादी शख्सियत था, उसका मस्जिद से लेना-देना ही नहीं रहा। ठीक वैसे ही जैसे फ़ैज़ और जोश या फिर उससे पहले मीर और ग़ालिब जैसे शायरों की शख्सियत थी। लेकिन हमारी सोच और बहुत हद तक सरकारी सोच उर्दू और मुसलमान या फिर उर्दू या मुसलमान और मस्जिद को एक ही समझती है। ऐसा केवल भारत में ही नहीं है।

पाकिस्तान के शुरू के दौर के रहनुमा भी ऐसे ही जाल में फंसे थे। तब तक, जब तक कि बांग्लादेश वजूद में नहीं आ गया। बांग्लादेश का वजूद में आना इस बात का सबूत है कि ऐसी सोच एक बड़ी भूल थी जिसकी भारी कीमत पाकिस्तान को चुकानी पड़ी। ख़ैर जो भी हो, गलत वजहों से ही सही पाकिस्तान में उर्दू बची रही और भारत की तरह उसे धीरे-धीरे मौत की तरफ नहीं बढ़ना पड़ा। कुछ समय पहले जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली के प्रबुद्ध वाइस चांसलर की कोशिश के बाद मीर तक़ी मीर के नाम पर एक कॉन्फ्रेंस हाल का उद्घाटन हुआ।

इसी परिसर में एक कमरा है जिसे मर्सिया निगारी के बेताज बादशाह मीर अनीस की याद में समर्पित किया गया है। इन कोशिशों का परिणाम क्या निकलता

है ये तो भविष्य ही बताएगा। आखिरी बार जब मैंने मीर अनीस के बारे में कुछ सुना था तो वो कुछ यूं था कि जिस जगह पे मीर अनीस की कब्र मानी जाती है वो हिस्सा काटते हुए रेलवे लाइन गुजरेगी।

आज अगर हम ग़ालिब की मज़ार देख पाते हैं वो इसलिए कि फ़िल्मकार सोहराब मोदी ने हज़रत निजामुद्दीन औलिया की

ख़ानकाह के पास ग़ालिब की कब्र पर संगमरमर लगवा कर महफूज कर दिया वरना उसके इर्द-गिर्द पहले की तरह ही तरह-तरह के जानवर तमाम तरह की हरकतें करते पाए जाते। कुछ साल पहले ग़ालिब की शताब्दी समारोह के समय पुरानी दिल्ली की गली क़ासिम जान में ग़ालिब की मशहूर हवेली से कोयले की टाल हटाई गई और उसे सुरक्षित किया गया। हालांकि अभी भी वहां पर पब्लिक टेलीफोन बूथ मौजूद है लेकिन कम से कम आज ग़ालिब के अनगिनत चाहने वाले तंग गलियों से गुजरकर ग़ालिब की खूबसूरत हवेली के दर्शन कर सकते हैं।

शायद मैं कुछ ज्यादा ही शिकायतें कर रहा हूं। हमें ये तो मानना ही पड़ेगा कि उर्दू साहित्य और शायद भुला दी गई उर्दू ज़बान के लिए यह आम बात नहीं है कि मजाज़ जैसे शायरों को ये इज़्ज़त बख़्शी जाए। ऐसा शायद इसलिए है कि हमारा नया शासक वर्ग इसमें शर्म महसूस करता है। हम भूल जाते हैं की उर्दू ज़बान की तहज़ीब में प्रतिरोध के तेवर, इंसान द्वारा इंसान के शोषण का विरोध, इश्क-ओ-मोहब्बत के नग़में, रूहानियत या रहस्यवाद, साम्राज्यवाद विरोध, खुदा और मुल्लाओं के साथ शोखी भरी बातचीत भरी पड़ी है। इस ज़बान और इसके साहित्य में क़दम क़दम पर मुल्लाओं को मज़हब के बेईमान

ठेकेदारों के रूप में पेश किया गया। हमारा नया भारतीय राष्ट्र मुल्लाओं के साथ गठजोड़ करके उर्दू को इन मुल्लाओं के धार्मिक नुसखों का एक ज़रिया बनाता जा रहा है। यही वजह है कि ग़ालिब पर आयोजित एक सरकारी समारोह के दौरान बागी शायर साहिर लुधियानवी ने कहा :

*ग़ालिब जिसे कहते हैं कि उर्दू का ही शायर था
उर्दू पे सितम टा के ग़ालिब पे करम क्यों है*

52 साल पहले एक बर्फीली सर्दी की सुबह लखनऊ के एक देसी शराबख़ाने से जिस नास्तिक मजाज़ को उठाया गया था आज वही मजाज़ भारत की राजधानी में एक धार्मिक मुसलमान के रूप में नजर आ रहा है। एक राहगीर की नज़र पड़ने पर मजाज़ को लखनऊ के बलरामपुर अस्पताल में भर्ती किया गया और शायद कुछ घण्टे और सांस लेने के बाद (निमोनिया या सिरॉसिस की वजह से) उसने दम तोड़ दिया। इस दर्दनाक हादसे की खबर बड़ी तेजी से चारों ओर फैल गई क्योंकि ये वो ज़माना था जब पूरे देश में प्रगतिशील लेखक संघ का डंका बजता था।

मजाज़ को मस्जिद के साथ पेश करने जैसी घटना केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है। एक जमाने में कांग्रेस ने मोहम्मद अली जिन्ना के सेक्युलर मूल्यों को नज़रअंदाज करके जिन्ना जैसे राष्ट्रीय नेता को भारतीय मुसलमानों का एक छोटा-मोटा प्रतिनिधि बना कर पेश कर दिया था।

ऐसी हरकत का उलटा ही असर हुआ और जिन्ना सचमुच मुसलमानों के नेता बनकर उभरे। क्या भारत सरकार इस मुल्क के सबसे बड़े उदारवादी चेहरे पंडित जवाहर लाल नेहरू के साथ किसी स्टाम्प पर किसी मंदिर की तस्वीर छाप सकते हैं। जबकि ये सच है कि नेहरू ने दक्षिण भारत के अनेक भव्य मंदिरों को देखकर सराहा था। मेरा विश्वास है कि वे ऐसी हिम्मत नहीं करेंगे। उन्हें मालूम है कि तस्वीरें शब्दों से कहीं अधिक ताकतवर होती हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सारा कुछ मस्जिद ही नहीं है जैसा कि डाक टिकट में दिखाया गया है। इस विश्वविद्यालय में अंग्रेजों द्वारा बनवाया गया स्ट्रेची हाल और अनेक सेक्युलर प्रतीक मौजूद हैं। इस यूनिवर्सिटी को देखते ही मुझे महान इतिहासकार इरफान हबीब और प्रगतिशील लेखक और कवि ज़ब्बी और सरदार जाफ़री जैसे लोगों की याद आती है। और फिर मजाज़ तो हैं ही।

इस विश्वविद्यालय में उर्दू के मशहूर कवि शहरयार ने भी ज़िंदगी बिताई जिन्हें उमराव जान जैसी फिल्मों के गीतकार के रूप में जाना जाता है।

मस्जिद मजाज़ के साथ गलत प्रतीक कैसे है इसके लिए मैं मजाज़ की ही पंक्तियां उदाहरण के रूप में पेश कर रहा हूँ। 1939 में ख्वाबे-शहर के नाम से उन्होंने ये कविता लिखी। कविता का शीर्षक स्वयं बताता है कि मान्यता रही है कि सुबह के ख्वाब अक्सर सच होते हैं। इस कविता में इंसानों द्वारा मजहब की तिजारत की बात कही हुई है। इसकी कुछ पंक्तियां इस तरह हैं :

*मस्जिदों में मौलवी खुतबे सुनाते ही रहे
मंदिरों में ब्राह्मण श्लोक गाते ही रहे
इक न इक दर पर जबीन-ए-शौक घिसती ही रही
आदमियत जुल्म की चक्की में पिसती ही रही
रहबरी जारी रही, पैगम्बरी जारी रही
दीन के परदे में जंग-ए-ज़रगरी जारी रही।*

दक्षिण एशिया के मुसलमानों के साथ उर्दू को जोड़ देना भारत में उर्दू के साथ बहुत बड़ी बेइसाफी होगी। इसमें दो तरह की असंवेदनशीलता शामिल है। एक तरफ़ तो ये बेइसाफी है दक्षिण एशिया के उन मुसलमानों के साथ जो तमिल, मलयालम, तेलुगू, कोंकणी, गुजराती, बंगाली, बलोच, पंजाबी और पश्तो ज़बानें बोलते हैं और दूसरी तरफ़ उन शायरों के साथ होने वाली बेइसाफी का क्या कहा जाए जिसमें हिंदू और सिख शायरों की एक लंबी सूची है। ब्रज नारायण चकबस्त, प्रेमचंद, फिराक गोरखपुरी, उपेंद्रनाथ अशक, राजेंद्र सिंह बेदी, कृशन चंदर, मालिक राम और राम लाल आदि। इनके अलावा अनगिनत एंग्लो इंडियन लेखक और शायर भी उर्दू की खिदमत कर चुके हैं। डाक टिकट जारी करते हुए भारत के उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी ने मजाज़ को एक क्रांतिकारी कवि बताया जिसने एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया। उनके अनुसार “उनकी कविताएं रूमानियत और क्रांति की प्रतीक हैं।” रसीदी टिकट के किसी कोने से झांकते हुए मजाज़ ने पूरे कार्यक्रम, जहां अपने भांजे फिल्मकार जावेद अख्तर और बहन हमीदा सलीम पर भी उनकी नजर पड़ी होगी, का ज़रूर मजाक उड़ाया होगा। भारत की मरती हुई जबान उर्दू में लिखे गए एक शेर में मजाज़ ने क्या खूब कहा है :

*बख़्शी हैं इश्क ने हमको वो जुरतें मजाज़,
डरते नहीं सिसायत-ए-अहले-जहां से हम।*

मध्यकालीन दक्षिण एशिया की साझी परंपराएं

■ आई.एस.डी.

जब तुर्कों और मुगलों ने भारत (इसे पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के रूप में पढ़ा जाए तो बेहतर होगा) को अपना घर बना लिया तो उन्होंने यहां ऐसी बहुत सारी नई चीजें भी फैला दीं जो उन्होंने फारसी, अरबी और तुर्की परंपराओं से सीखी थीं। आक्रमणकारी विजेताओं के रूप में आने वाले शासक यहां के देशी राजाओं और धार्मिक तौर-तरीकों से शुरुआत में एक तरह की दुश्मनी रखते थे। कई जगह उन्होंने मंदिरों को भी तोड़ा। मगर, एक बार पैर जमा लेने के बाद उन्होंने देशी राजे-रजवाड़ों और महंत/महात्माओं के साथ संबंध विकसित करने शुरू कर दिए। कुछ लोगों का मानना है कि सल्तनत या मुगल काल के राजाओं ने सिर्फ इस्लाम को बढ़ावा दिया और हिंदुओं को प्रताड़ित किया। यह बात कुछ शासकों के बारे में सही हो सकती है लेकिन अधिकांश मामलों में ऐसा नहीं रहा है। ये राजा यहां शासन करने आए थे। अगर कुछ इस्लामिक कानून उन्हें ज्यादा कर वसूल करने से या ज्यादा ताकत हथियाने से रोकते थे तो उन्होंने फौरन ऐसे कानूनों को भी रद्द करने में कोताही नहीं की। इतनी ही महत्वपूर्ण बात यह है कि उन राजाओं को जनता से राजस्व इकट्ठा करने और राजकाज चलाने के लिए हिंदू राजे-रजवाड़ों, व्यापारियों और जमींदारों की मदद भी चाहिए थी। अगर उन्हें टिकना था तो इन सभी समूहों से अच्छे संबंध विकसित करने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं था। दूसरी तरफ हिंदू जमींदारों ने भी तुर्कों और मुगलों के शासन में अहम पद संभाले क्योंकि इसमें उन्हें भी अपना फायदा दिखाई देता था। तुर्क और मुगल इसलिए सत्ता कायम करने में कामयाब रहे क्योंकि उन्हें यहां के हिंदू जमींदारों से समर्थन और मदद मिल रही थी। इससे जमींदारों की ताकत में भी इजाफा हुआ क्योंकि उन्हें तुर्कों की शक्तिशाली सेना का समर्थन हासिल था। धीरे-धीरे यही हिंदू जमींदार हिंदू परंपराओं के संरक्षक बन गए। मुगल राजाओं से अच्छे ताल्लुकात रखने वाले बहुत से राजपूत राजाओं को और भी ज्यादा ताकत मिली क्योंकि उन्हें मुगल नौकरशाही में बड़े-बड़े पद दिए गए थे। उन्होंने बहुत सारे विशाल मंदिर बनवाए। मिसाल के तौर पर, जयपुर के कछवाहा राजाओं ने आमेर में बहुत सारे मंदिर

बनवाए।

छोटी-छोटी रियासतों के बहुत सारे मुस्लिम राजाओं ने स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों को संरक्षण दिया। जैसे, *रामायण* और *गीता* का पहली बार बांग्ला भाषा में अनुवाद एक मुस्लिम शासक की देखरेख में ही करवाया गया था।

साझी संस्कृति का निर्माण

शासक शासन कर रहे थे। लेकिन शासकों के अलावा और भी बहुत तरह के लोग भारत आते रहते थे। इनमें बहुत सारे साधु, व्यापारी, विद्वान और सिपाही होते थे।

इस्लाम की दो शाखाएं रही हैं। एक शाखा कुरान और हदीस के कड़े सिद्धांतों पर आधारित है और दूसरी संतों, सूफियों और रहस्यवादियों की शाखा है। यहां आने वाले लोगों के लिए दूसरी शाखा ने पथप्रदर्शक का काम किया है। यहां बस जाने के बाद उनके सामने रोजी-रोटी का सवाल आता था। उन्हें भोजन और कपड़े की तलाश करनी पड़ती थी। उन्हें रहने के लिए घरों की दरकार थी। घर चलाने के लिए उन्हें शादी-ब्याह करने थे। उन्हें लोगों से ताल्लुक कायम करने थे। इन सारी चीजों ने मिलकर एक नई परंपरा को जन्म दिया। गाज़ीपुर या मुज़्ज़रफ़रपुर जैसे नाम उस युग की इसी भावना को इंगित करते हैं। जहां एक तरफ *गाज़ी* और *मुज़्ज़रफ़र* जैसे शब्द अरबी मूल के रहे हैं वहीं दूसरी तरफ *पुर* संस्कृत का शब्द है। नई आहार शैलियां, नई इमारतें, नई भाषाएं और नई धार्मिक परंपराएं सामने आईं। दरअसल ज्यादातर शासक इन बदलावों को समझने की स्थिति में नहीं थे। वे इन बदलावों को गहरे संदेह की नजर से देखते थे। उन्होंने कई बार ईशनिंदा के आरोप में मुसलमान या हिंदू धर्मोपदेशकों को दंडित भी किया। वे भारतीय मुसलमानों को नीची नजर से देखते थे। लेकिन आम लोगों की जरूरतों और दृष्टि से बनी लोकप्रिय संस्कृति को दबाना शासकों के वश की बात नहीं थी। इन बदलावों में से कुछ का हम नीचे जिक्र कर रहे हैं।

भोजन और पहनावा

हिंदुस्तानियों के भोजन में *रोटी* की अहमियत किसी से छिपी नहीं है। लेकिन यह तुर्की भाषा का शब्द है। इसका

मतलब है कि भारतीय भोजन के सबसे लोकप्रिय हिस्से की जड़ें तुर्की परंपराओं में रही हैं। उत्तर भारत में *जलेबी*, *कचौरी* और *आलू* की सब्जी नाश्ते का एक बुनियादी हिस्सा है। *जलेबी* भी तुर्कों के साथ यहां आई। *कचौरी* प्राचीन भारतीयों की देन थी जबकि *आलू* यूरोपियों के साथ अमेरिका से यहां आया था। *हलवा*, *समोसे* और एक प्याली चाय के बिना हमारी शाम की बैठकें पूरी नहीं होतीं। मजे की बात यह है कि *हलवा* और *समोसा* भी तुर्कों से हमें मिले हैं। चाय की खोज चीनियों ने की थी। बाद में यही चाय अंग्रेजों के साथ भारत आ पहुंची। भारत में *परांठे* का आविष्कार भी तुर्कों ने किया। *बिरयानी*, *कबाब* और न जाने कितने मांसाहारी खाद्य पदार्थ भी इन्हीं बाहरी संस्कृतियों से यहां आए हैं।

आज जब कोई खूबसूरत लड़की *सलवार शमीज़* और *दुपट्टा* पहने निकलती है तो दरअसल वह दो परंपराओं के मेल का प्रतिनिधित्व करती है। *सलवार* और *शमीज़* तुर्क-फारसी परंपरा से निकले हैं जबकि *दुपट्टा* प्राचीन भारतीय परंपरा की देन रहा है।

लोकप्रिय धार्मिक परंपराएं

प्रत्येक इंसानी समुदाय में बहुत सारे ऐसे लोग होते हैं जो “जीवन क्या है”, “मौत के बाद क्या होता है?”, “अच्छा क्या है और बुरा क्या है?” जैसे बड़े सवाल खड़े करते रहे हैं। इस तरह के आध्यात्मिक रुझान वाले लोग इन सवालों पर अपने-अपने जवाब भी दे जाते हैं। आमतौर पर ऐसे लोगों को मानने वालों का एक छोटा-मोटा समूह रहता है। लेकिन किसी समुदाय के इतिहास में कुछ ऐसे चरण आते हैं जब ये सवाल असंख्य लोगों के लिए बुनियादी सवाल बन जाते हैं। ऐसे ही मौकों पर नये धार्मिक आंदोलन सामने आते हैं। उत्तर भारतीय ब्राह्मणवादी परंपरा पहली सहस्राब्दी के बाद चतुर्वर्ण जातीय संरचना पर आधारित रही है। दसवीं शताब्दी के बाद विशाल भूखंडों में पहली बार खेती-बाड़ी शुरू की गई थी। इन जमीनों को प्रवासी जाट समुदायों ने हरा-भरा बनाया था। बहुत सारे इलाकों में सदियों से जंगलों में रहते आए लोग भी एक जगह टिक कर खेती-बाड़ी करने लगे थे। इन समुदायों में समानता की शक्तिशाली जनजातीय परंपराएं मौजूद थीं। इन नए उभरते किसान समूहों के साथ ही नई धार्मिक परंपराएं भी सामने आ रही थी। समानता का संदेश लेकर इसी समय इस्लाम भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था। देशी परंपराओं और इस्लाम के बीच इस आपसी लेन-देन ने ही इस दौरान धर्म के क्षेत्र में

बेजोड़ प्रयोगों को जन्म दिया। यदि हम नानक, कबीर, रैदास, दादू आदि संतों के उपदेशों का अध्ययन करें तो उन सब में एक चीज समान दिखाई देती है। उन सभी ने मनुष्यों की समानता पर जोर दिया है। उनके उपदेशों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे इस्लामिक परंपराओं से वाकिफ थे। सिख धर्म इनमें से सबसे ज्यादा स्थापित और सुज्ञात रहा है। सिखों की पवित्र पुस्तक *गुरुग्रंथ साहिब* में बाबा फरीद जैसे विख्यात मुस्लिम संतों के दोहों को देखा जा सकता है। कबीर जैसे संतों का हिंदू और मुसलमान, दोनों ही समुदाय के लोग समान भाव से आदर करते हैं। समानता पर यह जोर इस्लामिक परंपरा की देन दिखाई देता है। दूसरी तरफ इन संतों की वाणी में ईश्वर और भक्ति की अवधारणा छठी-सातवीं सदी के तमिलभाषी इलाकों की परंपराओं से उपजी दिखाई देती है। इसका मतलब है कि ये साधु संत दो पूर्ववर्ती परंपराओं के अनूठे मेल को आगे बढ़ा रहे थे। नए किसानों व मजबूत जनजातीय परंपराओं को इन संतों के उपदेश आकर्षक दिखाई देते थे इसलिए उन्होंने इन गुरुओं और संतों को फौरन अपना लिया। साझा संस्कृति की यही विरासत है जिसे *सत्यनारायण कथा* जैसी लोकप्रिय प्रार्थनाओं में देखा जा सकता है। यह कथा जितनी नारायण की कहानी से प्रेरित है उतनी ही पूर्वी बंगाल के सतिया पीर की कहानी से भी प्रभावित रही है।

यहां आने वाले मुसलमान संत भी भारत की देशी परंपराओं को समझने में गहरी दिलचस्पी रखते थे। मोइनुद्दीन चिश्ती या निजामुद्दीन औलिया इस्लाम और देशी धार्मिक परंपराओं के मेल से उपजे इस्लामिक संस्करण का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत के अलावा और कहीं भी किसी संत की समाधि पर पूजा-अर्चना की परंपरा इस्लाम के लिए अनजानी रही है। हिंदू पहले से ही संतों को दफनाने और उस स्थान पर मंदिर बनाने की परंपरा का पालन करते आ रहे थे। गैर-भारतीय इस्लाम के लिए अल्लाह की प्रशंसा में गीत-गाणा एक अजूबी चीज रही है। हिंदुओं के पास ईश-वंदना के लिए गाने-बजाने की एक लंबी परंपरा रही है। कव्वाली गायन सूफी पूजा स्थलों से ही उपजी है। ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की अजमेर स्थित समाधि पर उनकी पुण्यतिथि (ऊर्स) के समय कव्वालियों का बहुत बड़ा आयोजन होता है। दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह भी एक ऐसा ही बड़ा केंद्र है। कव्वालियां आमतौर पर उर्दू में गायी जाती हैं लेकिन उनके शब्द फारसी काव्य शास्त्र से ही निकले होते हैं।

कश्मीर जैसे स्थानों पर मुस्लिम संतों की सबसे शक्तिशाली परंपरा को ऋषि शृंखला के नाम से जाना जाता है। ऋषि संस्कृत का शब्द है। जब लोग इन संतों या ऋषियों के पास जाते थे तो इस भेंट से उन्हें एक आध्यात्मिक परिपूर्णता का आभास मिलता था। उनके लिए यह बात मायने नहीं रखती थी कि वह साधु हिंदू है या मुसलमान। इसीलिए गुरु नानक या निजामुद्दीन औलिया के अनुयायियों में तमाम धर्मों और समुदायों के लोग होते थे।

हसन और हुसैन की कुर्बानी पर निकलने वाले ताज़िये जुलूस भारत के बाहर और कहीं दिखाई नहीं देते। माना जाता है कि ये जुलूस रथयात्रा त्यौहारों की भारतीय परंपरा से उपजे हैं। मोहरम के ताज़िये और दिल्ली में रामलीला के लिए राम और रावण के पुतले, सभी मुसलमान कारीगर बनाते हैं। तेरूकुट्टु और कथक्कली जैसी तमिलनाडु और केरल की लोक एवं परंपरागत कलाओं में मुस्लिम संगीतकारों को उनके धर्म के आधार पर पहचानना मुश्किल हो जाता है। यही बात हरियाणा, राजस्थान व मध्य प्रदेश में स्वांग, ख्याल और नाच परंपराओं पर भी खरी उतरती है। इन सभी में मुसलमान गायकों, संगीतकारों, नर्तकों और अभिनेताओं की भरमार रहती है। लोक संगीत के क्षेत्र में राजस्थान की *लंगा* और *मंगनीयार* परंपरा का कोई सानी नहीं। लेकिन इन कलाकारों के रूप रंग, पहनावे या भाषा के आधार पर राजस्थान के बाकी हिंदू जनजातीय कलाकारों से उन्हें अलग कर पाना मुश्किल होता है।

भारतीय संगीत की शास्त्रीय परंपरा

भारतीय संगीत की शास्त्रीय परंपरा दुनिया को भारतीय सभ्यता द्वारा दिया गया सबसे रचनात्मक उपहार माना जा सकता है। यही परंपरा है जिसमें हमें हिंदू और मुस्लिम पहचानों का सबसे खूबसूरत मेल दिखाई देता है।

राग

सितार और तबले का आविष्कार अमीर खुसरो ने किया था।

सबसे लोकप्रिय शास्त्रीय गायन संगीत को *खयाल* कहा जाता है। गायन की यह विधा सोलहवीं सदी में अस्तित्व में आई थी। इससे पहले की शास्त्रीय गायन शैली को *ध्रुपद* शैली कहा जाता था। *ध्रुपद* परंपरा मुख्य रूप से ईश्वर की स्तुति के लिए इस्तेमाल होती थी। कुछ परिवारों ने गायन की इस परंपरा को आज भी जिंदा रखा हुआ है। अमीनुद्दीन डागर और मोइनुद्दीन डागर इस शैली के सबसे विख्यात गायक रहे हैं।

शिव की उपासना में गाए गए उनके गीत सुनने वालों को अभिभूत कर देते हैं।

खयाल गायन परंपरा *ध्रुपद* और फारसी परंपरा के परस्पर मेल से उपजी है। फिलहाल *खयाल* गायन में कई घराने स्थापित हैं जिनकी शैलियां एक दूसरे से कुछ भिन्न मानी जाती हैं। ये घराने गुरु-शिष्य परंपरा की तर्ज पर काम करते हैं। इसीलिए ग्वालियर घराने के दो सबसे जाने-माने गायकों में एक पंडित कृष्णराव शंकर और दूसरे मुश्ताक हुसैन खान रहे हैं। जयपुर घराने में पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर और रजब अली खान का कोई सानी नहीं रहा है।

शास्त्रीय संगीत शैलियों से उपजा सुगम शास्त्रीय संगीत भी इसी तरह के घालमेल को दर्शाता है। रसूलनबाई की *कजरी*, *चैती* और *होरी* (होली के गीत) का जोड़ ढूंढना मुश्किल है। जब भजनों की चर्चा आती है तो बड़े गुलाम अली खान द्वारा गाया गया 'हरिओम तत्सत' गीत अपनी अलग पहचान रखता है।

वाद्य संगीत के क्षेत्र में अलाउद्दीन खान का मेहर घराना सबसे बेजोड़ है। अलाउद्दीन खान को रामपुर के सेनिया घराने के उस्तादों से संगीत की दीक्षा मिली थी। सेनिया घराने का दावा है कि वे मियां तानसेन के वंशज हैं। बाद में अलाउद्दीन खान ने सितार वादन में पंडित रविशंकर को दीक्षा दी। जब आप रविशंकर का सितार या अली अकबर खान का सरोद वादन या हरिप्रसाद चौरसिया का बांसुरी वादन सुनते हैं तो वास्तव में सेनिया घराने की धुनों को ही सुन रहे होते हैं। हिंदू और मुसलमान गायक तकरीबन सभी घरानों में दिखाई देते हैं। इनके गीत आमतौर पर माँ सरस्वती की वंदना से शुरू होते हैं। अलाउद्दीन खान कृष्ण के भक्त थे। और बिस्मिलाह खान को भला कौन भूल सकता है। उनकी बजाई शहनाई की धुनें न जाने कितने हिंदू शादी-ब्याहों में गूंजती हैं।

मंचन परंपराएं

कथक

यह उत्तरी भारत की सबसे लोकप्रिय नृत्य विधा है। *कथक* शब्द 'कथा' यानी कहानी शब्द से निकला है। यह मुख्य रूप से एकल प्रदर्शन कला रही है। इस नृत्य शैली की एक अनूठी खासियत यह है कि अपने वाचन और विवरणात्मक टिप्पणियों के जरिए हर कलाकार दर्शकों के साथ एक आपसी संबंध कायम कर लेता है। न जाने कितनी सदियों से सदा सफर में रहने वाले भाट गांव-देहात के लोगों को मिथकीय

कहानियों और नायकों के बारे में सुनाते चले आ रहे हैं। उनकी कथाएं अकसर *महाभारत* और *रामायण* जैसे महाकाव्यों से ली गई होती हैं। इसके अलावा वे पुराणों की कहानियां भी सुनाते हैं। पुराणों में मुख्य रूप से भगवान कृष्ण और वृंदावन में उनके कारनामों की कहानियां उन्हें पसंद आती हैं।

मध्यकाल में मुगलों के साथ यह नृत्य विधा दरबारों में भी लोकप्रिय हो उठी। चित्ताकर्षक वेशभूषा और आभूषणों से सजे नर्तक-नर्तकियां अपनी काव्यात्मक विवरणों के साथ राजाओं और नवाबों का मनोरंजन करते थे और पूरे परिवेश को सौंदर्य के सागर में सराबोर कर देते थे। इस प्रकार, *कथक* नृत्य हिंदू और मुस्लिम, दोनों संस्कृतियों के सौंदर्यात्मक आदर्शों के मिलन से बना है।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में *कथक* वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार में अपने वर्तमान रूप तक पहुंच चुका था। एक तरफ तो कृष्ण लीला के समावेश से इस नृत्य के उपासनात्मक आदर्श एक नए शिखर तक जा पहुंचे जिन्हें *ठुमरी* के साथ मंचित किया जाता था। दूसरी तरफ दरबार की अपनी साज-सज्जा और ऐश्वर्य के दम पर प्रस्तुति में भी नया सौंदर्य और नयी जान आ गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि *कथक* हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का सूक्ष्म मिश्रण बन गया। उसमें मूल हिंदू महाकाव्यों के साथ-साथ फारसी उर्दू काव्यों के विषयों का भी मंचन किया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय रंगमंच परंपराएं

आधुनिक काल में रंगमंच को पुनर्जीवित करने का श्रेय आगा हसन अमानत को जाता है। 1856 में उन्होंने ही *इंद्रसभा* नाटक लिखा था और उसका मंचन किया। कई सदियों बाद इसी नाटक के साथ भारत में रंगमंच के बीज पड़े। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार में मंचित होने वाला यह पहला नाटक था। उल्लेखनीय है कि वाजिद अली शाह खुद कवि, संगीतकार, *कथक* शैली के रचनाकार और रासलीला को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाने वाले एक महान कलाप्रेमी थे। अमानत का संगीतीय नाटक काव्यात्मक शैली में लिखा गया था और यह शैली वाजिद अली शाह के दरबार में होने वाली रास लीला के मंचन से ही प्रेरित थी।

पारसी रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच में पारसी रंगमंच आंदोलन का अपना एक वजूद रहा है। 1850 के दशक में शुरू हुए

इस आंदोलन में भारतीय किस्से-कहानियों की रंगमंचीय प्रस्तुति के एक से एक अभिनव प्रयोग किए गए हैं। यह परंपरा 1930 के दशक तक फलती-फूलती रही और इसके बाद धीरे-धीरे भारतीय सिनेमा में विलीन हो गई। पारसी थियेटर के ही साये में बहुत सारे युवा मुस्लिम पटकथा लेखक सामने आए थे। रौनक, बेताब, रुसवा, हफीज़ अब्दुला तालिब, हुबाब, जरीफ, आराम, खुर्शीद और बहुत सारे दूसरे पटकथा लेखक एक से एक कामयाब नाटक रच रहे थे जो प्रायः पुराणों के किस्से-कहानियों और *रामायण* व *महाभारत* पर आधारित होते थे। आगा हश्म कश्मीरी पारसी थियेटर के सबसे विख्यात पटकथा लेखकों में रहे हैं। उनकी कृतियों में फिरदौसी के पारसी महाकाव्य *शाहनामा* पर आधारित *रुस्तमो सोहराब* से लेकर सूरदास के जीवन को प्रतिबिंबित करने वाले *बिल्व मंगल* तक एक से एक बेजोड़ नाटक शामिल थे। ये पटकथा लेखक फ्रांसीसी ओपेरा से काफी प्रभावित थे। लेकिन उनके पास नाट्य शास्त्र की भी प्रतियां मौजूद थीं।

जब भारत में आवाज वाली फिल्में बनने लगी तो ज्यादातर पारसी अभिनेता और अभिनेत्रियां फिल्मों में सक्रिय हो गए। भारतीय सिनेमा आंदोलन ने *रामायण* और *महाभारत* को केंद्र में रखते हुए विभिन्न भाषाओं में बहुत सारी फिल्में बनाईं और पारसी रंगमंच के बहुत सारे तत्वों का खूबसूरती से समावेश किया। प्राचीन काल में देवी-देवता, नायक-नायिकाएं किस तरह के कपड़े पहनते थे, इस बारे में हमारी सोच पूरी तरह इसी रंगमंच और सिनेमा आंदोलन से जन्मी है। यही परंपरा *महाभारत* और *रामायण* जैसे टेलीविजन सीरियलों में भी दिखायी देती है।

हबीब तनवीर जैसे पटकथा लेखक भी मंचन कलाओं की इसी परंपरा की नुमाइंदगी करते हैं। उनके नाटकों में कालिदास द्वारा रचित *शकुंतला*, विशाखदत्त के *मुद्राराक्षस* और भवभूति के *उत्तर रामचरित* जैसी संस्कृत महाकृतियां शामिल हैं। इसके अलावा उन्होंने *आगरा बाजार* और *चरणदास चोर* जैसे बेहद सफल नाटक भी लिखे हैं।

भाषा

विभिन्न स्रोतों से आयी चीजों का परस्पर मेल भारतीय परंपरा की विशेषता रही है। विविध संस्कृतियों के इस समागम का सबसे जाहिर उदाहरण भाषाओं के क्षेत्र में दिखाई देता है। उदाहरण के लिए इस वाक्य को ही लीजिए—“मेरे चाचा रिटर्न कर रहे हैं”। इस वाक्य में संस्कृत (मेरे), तुर्की (चाचा) और

अंग्रेजी (रिटर्न), तीनों भाषाओं के शब्द हैं। बहुत सारी भारतीय भाषाओं की वाक्य संरचना ऐसी है कि उसमें विदेशी शब्दों को आसानी से समाहित किया जा सकता है। उत्तर भारतीय भाषाएं पिछले सात-आठ सौ सालों के विकास क्रम की उपज हैं। आज हम जिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं उनमें से बहुत सारे प्राचीन काल से भी प्रचलन में थे। मसलन, हमारी सबसे पवित्र नदी गंगा का नाम संस्कृत भाषा से नहीं आया है। यह लुप्त हो चुकी मुंदरी भाषा का शब्द था। यही स्थिति 'चावल' शब्द के साथ है। इन भाषाओं के विकास का सबसे महत्वपूर्ण चरण तेरहवीं शताब्दी के बाद आया। यह वही समय था जब तुर्क शासक उत्तर भारत की ओर बढ़े आ रहे थे। इन शासकों ने फारसी और अरबी भाषाओं को खूब बढ़ावा दिया। क्योंकि पारसी भाषा शासन की भाषा थी इसलिए यहां के लोगों ने भी जल्दी ही उसे इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। हैरत की बात नहीं है कि औरंगजेब के खिलाफ लड़ने वाले मराठों ने भी फारसी को ही शासन की भाषा बनाए रखा। इन्हीं भाषाओं के आपसी लेन-देन से हिंदी का जन्म हुआ। इस भाषा के सौंदर्य पर गर्व करने वाले अमीर खुसरो पहले नामचीन व्यक्ति थे। आज जो हिंदी हम बोलते हैं उसमें संस्कृत भाषा जैसी संरचना तो है लेकिन इसके शब्द भंडार में ब्रज, अवधी, भोजपुरी, अरबी और फारसी, सब भाषाओं के शब्दों का बेजोड़ मिश्रण मौजूद है। आइए अब अरबी से निकले कुछ शब्दों पर ध्यान दें।

अरबी से निकले शब्द

जब हम *आदमी* या *इंसान* शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ये कहां से आए हैं। ये अरबी भाषा के शब्द हैं। और इन मनुष्यों को अपनी *अक्ल* में इजाफे के लिए *किताब* पढ़नी चाहिए और *कलम* से लिखना चाहिए। इस तरह के मनुष्यों को *इंसाफ* के लिए लड़ना चाहिए और *जालिमों* के *जुर्म* को कभी बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। हमें *मोहब्बत* को प्रोत्साहित करना चाहिए और अपना *वादा* कभी नहीं तोड़ना चाहिए। *शराफत* हमेशा जीतती है और *गद्दारी* हमेशा हारती है—सारी हिंदी फिल्मों का *किस्सा* बस इतना ही है।

वक्त और लहर इस *दुनिया* में किसी का इंतजार नहीं करते। *मौत* सबको आनी है और इसके लिए *गम* का कोई मतलब नहीं। दिल्ली की गर्मियों में *साफ* पानी के शर्बत के एक गिलास से बढ़कर कोई चीज नहीं। नहीं तो इंसान को *दवा* लेनी पड़ती है। इस मुल्क के *अमीर गरीबों* की फिक्र नहीं करते। हमारी सेहत के लिए *सब्जी* अच्छी चीज है। और खुले *मैदान* में घूमना भी सेहत के लिए अच्छा होता है।

फारसी से निकले शब्द

भगतसिंह की सरगर्मियों के बाद करोड़ों हिंदुस्तानी जब-तब *इंकलाब जिंदाबाद* का नारा लगाते रहे हैं। अब इस बात पर कोई ध्यान भी नहीं देता कि ये दोनों शब्द अरबी और फारसी भाषा से आए हैं। क्रांतिकारी एक ऐसे दिन का सपना देखते हैं जब *जमीन* उसी तरह हम सबकी होगी जिस तरह *आसमान* पर हम सबका हक है।

अपने घरों में हम *अखबार* पढ़ते हैं लेकिन हर साल *कीमतें* बढ़ती जा रही हैं। इसलिए गरीब आदमी की *आमदनी* ही उनका *खर्चा* है। वे कम से कम खाने लायक चीजें *खरीद* पाते हैं और इस वजह से *बीमार* पड़ रहे हैं। हमें अपनी *सेहत* का खयाल रखना चाहिए। गरीब लोग मुकम्मल कपड़े (*लिबास*, *जामा*, *पाजामा*, *सलवार*, *शमीज़*) भी नहीं *खरीद* पाते। झुगियों में खुले मैदान नहीं होते और साफ *हवा* नहीं *मिलने* से *यहां* पर *बीमारियों* का घर बन जाता है। *बच्चे* तो बहुत जल्दी-जल्दी *बीमार* पड़ने लगते हैं। इसीलिए उनके *हालात खराब* होते जा रहे हैं। लेकिन हमारे शासकों के पास *गरीबों* के *दर्द* को महसूस करने के लिए *दिल* ही नहीं है। अगर हम इकट्ठा हो जाएं और *जुल्म* की *जंजीरों* को तोड़ने के लिए अपनी *ताकत* लगा दें तो *जमाना* बदल जाएगा। हमें एक ऐसे समाज की दरकार है जो *दोस्ती* की बुनियाद पर खड़ा होगा। जहां *चाह* वहां *राह*। हमें ये *सवाल* अपने *हाकिमों* से भी पूछने चाहिए।

सिर्फ *दौलत*, *नौकरी* और *किराया* ही जिंदगी नहीं होते। अगर कोई *सुबह-शाम* इन्हीं सवालों पर सोचता रहे तो जिंदगी अपना *जादू* खो देगी। हमें अपने *मुल्क* के बारे में भी सोचना चाहिए।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए